मिश्र बंधु

बाबू श्याम सुंदर दास

भाषा, धर्म और राष्ट्र हिंदी साहित्य सम्मेलन, 1910–1935

शुभनीत कौशिक

वर्ष 1915 में जब संयुक्त प्रांत के बदायूँ ज़िले में बिसौली के मुंसिफ़ मदन मोहन सेठ ने गवाहों के बयान दर्ज करने हेतु नागरी लिपि के इस्तेमाल का फ़ैसला किया, तो शायद उन्हें इस बात का अंदाज़ा भी नहीं रहा होगा कि उनका यह क़दम इतना तूल पकड़ेगा और उसके कारण संयुक्त प्रांत में भाषा संबंधी विवाद और तीखा हो जाएगा। बिसौली के मुंसिफ़ के इस क़दम की उर्दू पत्रों ने जम कर आलोचना की।[1] बाद में, सूचना मिलने पर जब बदायूँ के ज़िला न्यायाधीश ने बिसौली के मुंसिफ़ को अदालत का काम उर्दू में जारी रखने के लिए कहा, तो मुंसिफ़ मदन मोहन सेठ ने ऐसा करने से साफ़ इंकार कर दिया। ज़िला न्यायाधीश की आज्ञा की अवहेलना करने पर सेठ का स्थानांतरण बिसौली (बदायूँ) से एटा ज़िले में कर दिया गया। हिंदी के समाचारपत्रों और पत्रिकाओं ने सेठ के क़दम का खुल कर समर्थन किया और तबादले का विरोध करते हुए सरकार द्वारा इस मामले की जाँच कराए जाने की माँग की। मुंसिफ़ मदन मोहन सेठ द्वारा नागरी लिपि के प्रयोग का समर्थन करते हुए काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने इलाहाबाद हाईकोर्ट को एक ज्ञापन सौंपा, जिसका समर्थन हिंदी की तमाम पत्र-पत्रिकाओं ने भी किया।[2] यह घटना हिंदी और उर्दू के बीच गहराते हुए उस भाषाई विवाद का महज़ एक उदाहरण भर है, जिसकी पृष्ठभूमि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में अदालतों और स्कूलों में प्रयोग की भाषा के सवाल को लेकर हुए विवाद में समाई हुई है।

बीसवीं सदी के आरम्भिक वर्षों में हिंदी-नागरी आंदोलन के और तेज़ होने तथा उसके बरअक़्स उर्दू के अंजुमन तरक़्क़ी-ए-उर्दू जैसे भाषाई संगठनों की गतिविधियों ने भी इन दोनों भाषाओं के बीच

---

[1] मसलन देखें, *ज़ुल करनैन*, 28 नवम्बर 1915, *सेलेक्शंस फ़्रॉम द नेटिव न्यूज़पेपर्स पब्लिश्ड इन द यूनाइटेड प्रोविंसेज़* (यहाँ के बाद *नेटिव पेपर्स*), 1915 : 1255.

[2] हिंदी के इन पत्रों में प्रमुख थे : *अभ्युदय, प्रताप, आर्य मित्र* और *आनंद* आदि. देखें, *नेटिव पेपर्स*, 1916 : 67, 90, 114, 360.

पनपती दरार को बढ़ाने का काम किया। भाषा के सवाल के इर्द-गिर्द दो गुट बन गये। इनमें से एक हिंदी और देवनागरी लिपि का पक्षधर था तो दूसरा उर्दू और फ़ारसी लिपि का। उन्नीसवीं सदी के अंत तक आते-आते इन दोनों भाषाओं को धार्मिक अस्मिता से जोड़ दिया गया यानी ऐतिहासिक तथ्यों के उलट यह मान लिया गया कि हिंदी हिंदुओं की और उर्दू मुसलमानों की भाषा है।[3] हिंदी के हिंदुओं की राष्ट्रभाषा बनने की प्रक्रिया पर टिप्पणी करते हुए वसुधा डालमिया लिखती हैं कि 'उन्नीसवीं सदी के मध्य से ही हिंदुओं की भाषा के तौर पर हिंदी की धारणा को, इसकी वैचारिक और क्षेत्रीय आकांक्षाओं के साथ, राष्ट्रवादियों ने अपना लिया और आगे इसके विकास का ज़िम्मा भी उठा लिया'। वसुधा डालमिया के अनुसार, इस प्रक्रिया में तीन बातें एक साथ घटित हुईं : पहला, हिंदी को उर्दू से अलग करते हुए उसकी स्वायत्तता का दावा; दूसरा, व्याकरण, शब्दकोशों और स्कूली पाठ्यपुस्तकों के ज़रिये भाषा का मानकीकरण; तीसरा, भाषा की स्वायत्तता के दावों को ऐतिहासिक संदर्भ में रखने के निरंतर चलने वाले प्रयास।[4] इलाहाबाद और बनारस जैसे शहरों में रहने वाले हिंदू अभिजन के मुखर प्रवक्ताओं ने हिंदू सांस्कृतिक मुहावरों को अपना लिया और इस तरह भाषा के मुद्दे ने एक नया राष्ट्रीय और राजनीतिक आयाम भी ग्रहण किया।[5] 1948 में प्रसिद्ध आलोचक रामविलास शर्मा ने 'राष्ट्रभाषा हिंदी और हिंदू राष्ट्रवाद' शीर्षक से एक लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने हिंदू राष्ट्रवादियों को हिंदी का सबसे बड़ा शत्रु बताते हुए कहा था :

> एक तरफ़ तो हम गर्व के साथ कहते रहे हैं कि हिंदी आम जनता की भाषा है जिसके बोलने वाले सभी जातियों और धर्मों के लोग हैं, दूसरी तरफ़ राष्ट्रीयता के नाम पर साम्प्रदायिकता का ज़हर फैलाने वाला यह नया हिंदू राष्ट्रवादी दल भाषा को धर्म के साथ जोड़ कर हिंदी को जनता की भाषा के पद से हटा देना चाहता है। ऊपर से देखने में मालूम होता है कि ये हिंदू राष्ट्रवादी हिंदी के समर्थक हैं, जो उसका प्रसार और विकास चाहते हैं, वास्तव में इनसे बड़ा शत्रु हिंदी का कोई दूसरा नहीं हो सकता।[6]

उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्ध इस लिहाज़ से भी हिंदी और उर्दू दोनों के संदर्भ में अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो उठता है कि इसी दौरान इन दोनों भाषाओं के आधुनिकीकरण और मानकीकरण की प्रक्रिया भी सम्पन्न हो रही थी।[7] जहाँ एक ओर आधुनिक हिंदी के निर्माण में, उसे आकार देने में भारतेंदु हरिश्चंद्र, राजा शिवप्रसाद सितार-ए-हिंद, प्रताप नारायण मिश्र, श्रीधर पाठक, महावीर प्रसाद द्विवेदी सरीखे लेखकों और विद्वानों की महती भूमिका रही;[8] वहीं दूसरी ओर उर्दू के संदर्भ में, इस प्रक्रिया में अहम भूमिका निभाने का श्रेय मुहम्मद हुसैन आज़ाद,[9] अलताफ़ हुसैन हाली[10] और शिबली नोमानी आदि विद्वानों को

---

[3] क्रिस्टोफ़र किंग ने भाषाओं को धार्मिक अस्मिता से जोड़ देने की इस ऐतिहासिक प्रक्रिया, इसके निहितार्थों और परिणति का ब्योरा अपनी किताब में दिया है. देखें, क्रिस्टोफ़र किंग (1994); साथ ही देखें आलोक राय (2001), पॉल ब्रास (1974).

[4] वसुधा डालमिया (1997) : 147-148.

[5] वही : 218.

[6] रामविलास शर्मा (1965) : 38.

[7] देखें, वीरभारत तलवार (2006).

[8] इस प्रक्रिया में भारतेंदु हरिश्चंद्र के योगदान, उनकी साहित्यिक और पत्रकारिता संबंधी गतिविधियों के विस्तृत ऐतिहासिक विश्लेषण हेतु देखें, वसुधा डालमिया (1997), रामविलास शर्मा (1984); प्रताप नारायण मिश्र के हिंदी साहित्य में योगदान के विश्लेषण हेतु देखें, शांति प्रकाश वर्मा (1970); श्रीधर पाठक की रचनाओं के संकलन हेतु देखें, *श्रीधर पाठक रचनावली* (2013).

[9] 1880 में मुहम्मद हुसैन आज़ाद ने उर्दू काव्य पर अपनी चर्चित किताब आबे-हयात लिखी. इस किताब का अंग्रेज़ी तर्जुमा करने वाले शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी और फ्रांसेस प्रिचेट के अनुसार '*आबे-हयात* क्लासिक ढंग से तैयार किया गया उर्दू काव्य का आख़िरी संकलन था और उर्दू का पहला और सबसे प्रभावशाली आधुनिक साहित्य इतिहास भी था.' देखें, मुहम्मद हुसैन आज़ाद (2001), अनु. शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी व फ्रांसेस प्रिचेट.

[10] अलताफ़ हुसैन हाली ने अपनी प्रसिद्ध किताब *मुसद्दस-ए हाली* वर्ष 1879 में लिखी. हाली की इस ऐतिहासिक कृति के गहन आलोचनात्मक विश्लेषण और इसकी साहित्यिक, राजनीतिक व ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए देखें, क्रिस्टोफ़र शैकल व जावेद मजीद (1997).

जाता है।[11] हिंदी की आधुनिकता और उसकी हैसियत पर टिप्पणी करते हुए अभय कुमार दुबे इस मुद्दे को भारतीय आधुनिकता के 'सर्वाधिक द्वैधग्रस्त इलाक़ों में से एक' मानते हैं। उनके अनुसार :

> यह एक ख़ास तरह का द्वैध है जो आधुनिकता और परम्परा के बीच अकसर होती रहने वाली अन्योन्यक्रिया की देन नहीं है। परम्परा की भूमिका तो इसमें न के बराबर ही है। आधुनिकता के भीतर चलने वाली व्यावहारिक प्रक्रियाओं, संघर्षों और समझौतों ने मिल-जुल कर इसे बनाया है। यह आधुनिकता की भारतीय राजनीति और उसके भाषाई घटक का द्वंद्व है। इसे भारत की भाषाई आधुनिकता का नाम दिया जा सकता है जो यूरोप की भाषाई आधुनिकता से भिन्न है।[12]

उन्नीसवीं सदी के आख़िरी दशकों में उत्तर भारत में भाषाई संगठनों की स्थापना का दौर भी शुरू हुआ। काशी नागरी प्रचारिणी सभा (1893) और अंजुमन तरक़्क़ी-ए-उर्दू (1903) की स्थापना से पूर्व ही अनेक भाषाई संगठन अस्तित्व में आ चुके थे। मसलन, भाषा संवर्धनी सभा (अलीगढ़, 1877), देवनागरी प्रचारिणी सभा (मेरठ, 1882) और नागरी प्रचारिणी सभा (इलाहाबाद, 1876) आदि। हिंदी-नागरी आंदोलन में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली संस्था काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना मार्च, 1893 में ठाकुर शिव कुमार सिंह, श्यामसुंदर दास और पण्डित राम नारायण मिश्र ने की थी। नागरी प्रचारिणी सभा ने न सिर्फ़ उत्तर भारत में हिंदी और देवनागरी के प्रचार-प्रसार का काम किया, बल्कि अपनी विविध और बहुमुखी गतिविधियों से हिंदी भाषा और साहित्य पर अनूठी छाप छोड़ी।

सभा ने एक त्रैमासिक पत्रिका *नागरी प्रचारिणी पत्रिका* का भी प्रकाशन शुरू किया, जिसके ज़रिये सभा ने हिंदी के विद्वानों और लेखकों को न सिर्फ़ भाषा और साहित्य से जुड़े विषयों पर, बल्कि इतिहास, दर्शन, राजनीतिविज्ञान आदि तमाम विषयों पर अपने विचार रखने और परस्पर संवाद करने का एक मंच उपलब्ध कराया। मध्यकालीन कवियों की रचनाओं के संकलन और ग्रंथावलियों, *हिंदी शब्दसागर* सरीखे शब्दकोश आदि के प्रकाशन के अतिरिक्त सभा ने ब्रज, अवधी और हिंदी की पुरानी पाण्डुलिपियों की खोज की महत्त्वाकांक्षी परियोजना भी शुरू की।[13]

बीसवीं सदी के आरम्भिक वर्षों में नागरी प्रचारिणी सभा के कुछ सदस्यों को एक ऐसे संगठन की ज़रूरत महसूस हुई जो भारत भर में राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी प्रचार का काम करे और साथ ही, जिसके वार्षिक अधिवेशन देश के अलग-अलग हिस्सों में आयोजित हों। श्यामसुंदर दास अपनी आत्मकथा *मेरी आत्मकहानी* में इस बात का ज़िक्र करते हैं कि सभा की एक बैठक में उन्होंने ही उपस्थित सदस्यों के सामने हिंदी साहित्य सम्मेलन की स्थापना का प्रस्ताव रखा।[14] उनके अनुसार हिंदी साहित्य सम्मेलन की स्थापना का विचार 'इंटरनैशनल कांग्रेस ऑफ़ ओरिएंटलिस्ट्स' से प्रेरित था।[15] अंततः 1910 में हिंदी साहित्य सम्मेलन की स्थापना हुई। हिंदीभाषी संसार ने हिंदी साहित्य सम्मेलन की स्थापना के प्रस्ताव का स्वागत किया। अक्तूबर, 1910 में प्रस्तावित हिंदी साहित्य सम्मेलन के स्थापना अधिवेशन का स्वागत करते हुए इलाहाबाद से छपने वाले *अभ्युदय* के सम्पादक ने लिखा : 'इस पहल के लिए सम्मेलन के आयोजक बधाई के पात्र हैं, उन्हें चाहिए कि सम्मेलन में विवादित मुद्दों पर चर्चा करने से बचें और भाषा तथा साहित्य के साथ सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक मसलों पर पूरी निष्पक्षता के साथ चर्चा करें'।[16]

---

[11] शिबली नोमानी की रचनाओं के विस्तृत विवरण हेतु देखें, मुहम्मद सादिक़ (1984).

[12] अभय कुमार दुबे (2015) : 1-2.

[13] रामचंद्र शुक्ल (1929) : 347-48.

[14] श्यामसुंदर दास (1941) : 139-140.

[15] 'इंटरनैशनल कांग्रेस ऑफ़ ओरिएंटलिस्ट्स' का पहला अधिवेशन पेरिस में वर्ष 1873 में हुआ था. यह मुख्य रूप से भाषाशास्त्र के विद्वानों की संस्था थी, जिसे आयोजित करने में लियो दे रोस्नी, मेदियर दे मोंतजु और जेलिंस्की सरीखे विद्वानों का बड़ा योगदान था. देखें, 'द इंटरनैशनल कांग्रेस ऑफ़ ओरिएंटलिस्ट्स', *नेचर*, भाग 10, सं. 254 (1874) : 375-76.

[16] *अभ्युदय*, 4 सितम्बर 1910, *नेटिव पेपर्स*, 1910 : 816.

काशी नागरी प्रचारिणी सभा के तत्वावधान में बनारस में अक्तूबर, 1910 में हुए हिंदी साहित्य सम्मेलन के पहले वार्षिक अधिवेशन की अध्यक्षता मदन मोहन मालवीय (1861–1946) ने की। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रमुख नेता होने के साथ-साथ मदन मोहन मालवीय हिंदी-नागरी आंदोलन के भी अग्रणी नेता थे।[17] अपने अध्यक्षीय भाषण में मालवीय ने सम्मेलन के उद्देश्यों, हिंदी भाषा के स्वरूप, हिंदी में ग्रंथ-रचना, अदालतों में हिंदी, हिंदी और प्रादेशिक भाषाओं के परस्पर संबंध और उनकी उन्नति और राष्ट्रभाषा की आवश्यकता सरीखे तमाम मुद्दों पर अपनी राय रखी। चूँकि हिंदी साहित्य सम्मेलन नवरात्र के अवसर पर आयोजित हो रहा था, इसलिए मालवीय ने अवसर-विशेष की प्रासंगिकता पर अपनी टिप्पणी करते हुए कहा 'हिंदी भाषा के शयन के समय में जब साहित्य-सम्मेलन होता है तब इस सरस्वती शयन के समय के उपरांत जैसे विजयादशमी का दिन आता है, वैसे ही मुझको विश्वास है कि सोयी हिंदी भाषा, हिंदी साहित्य के जागने का समय निकट है'। भारत में नवरात्र की प्रासंगिकता को रेखांकित करते हुए मालवीय ने कहा :

> जिस तरह पहले, उसी तरह आज भी हिंदुस्तान में हिमालय के ऊँचे शिखर से लंका के छोर तक सहस्त्रों करोड़ों हमारे भाई इस नवरात्र में दुर्गाजी की स्तुति करते हैं। एक ही विद्या है, एक ही भाव है, केवल भाषा इसे पृथक करती है।[18]

हालाँकि मालवीय ने यह भी कहा कि 'सम्मेलन हुआ है सम्मेलन के लिए। इसमें विजयादशमी का उत्सव मनाने का कुछ प्रयोजन नहीं'। सम्मेलन के पहले ही अधिवेशन में सम्मेलन के उद्देश्य पारिभाषित कर दिये गये। ये उद्देश्य थे : हिंदी साहित्य के सब अंगों की उन्नति का प्रयत्न; देवनागरी लिपि का देश भर में प्रचार और हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रयास; हिंदी को 'सुगम, मनोरम और लाभदायक' बनाने के लिए उसकी शैली में संशोधन और उसकी त्रुटियों और अभावों को दूर करने का प्रयास; सरकार, देशी राज्यों, पाठशालाओं, कॉलेजों, विश्वविद्यालयों, अदालतों आदि में देवनागरी लिपि और हिंदी भाषा के प्रचार का उद्योग करना; उच्च शिक्षा प्राप्त युवकों में हिंदी का अनुराग उत्पन्न करना; हिंदी के लेखकों, पत्र-सम्पादकों, प्रचारकों आदि को प्रोत्साहित करने के लिए पारितोषिक, प्रशंसा-पत्र, पदक, उपाधि आदि से सम्मानित करना; पाठशाला समिति और पुस्तकालय स्थापित करना; हिंदी की उच्च परीक्षाएँ लेने का प्रबंध करना; हिंदी भाषा के साहित्य की वृद्धि के लिए उपयोगी पुस्तकें तैयार कराना आदि।[19]

सम्मेलन के इस पहले अधिवेशन में गौरीशंकर हीराचंद ओझा, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', मिश्र बंधु, श्रीधर पाठक, सुधाकर द्विवेदी, मुंशी देवी प्रसाद जैसे विद्वानों ने अपने लेख प्रस्तुत किये। ये लेख अधिकांशत: हिंदी भाषा और साहित्य, नागरी लिपि, और हिंदी-नागरी के प्रचार-प्रसार से जुड़े हुए थे। मसलन, गौरीशंकर ओझा, केशवदास शास्त्री, बाबू गोपाल लाल खत्री, गणपत जानकीराम दुबे ने नागरी लिपि के उद्‌भव व विकास, राष्ट्रलिपि के रूप में नागरी, और देसी राज्यों में नागरी लिपि के प्रचार के बारे में लेख लिखे।[20] इसी क्रम में संतराम शर्मा और गोविंद दास ने क्रमश: पंजाब और

---

[17] हिंदी-नागरी आंदोलन के संदर्भ में मदन मोहन मालवीय का एक महत्त्वपूर्ण योगदान 1897 में उनके द्वारा लिखा गया वह ज्ञापन था, जिसे उन्होंने एंथनी मैकडोनेल को दिया था. अदालतों में इस्तेमाल होने वाली भाषा और प्राथमिक शिक्षा की भाषा से संबंधित इस ज्ञापन का शीर्षक था — 'कोर्ट कैरेक्टर ऐंड प्राइमरी एजुकेशन इन द नॉर्थ वेस्टर्न प्रोविंसेज़ ऐंड अवध'. मदन मोहन मालवीय द्वारा लिखित इस ज्ञापन और उनकी अन्य रचनाओं के एक प्रतिनिधि संकलन हेतु देखें, समीर कुमार पाठक (सं.) (2013). मदन मोहन मालवीय की विस्तृत जीवनी के लिए देखें, सीताराम चतुर्वेदी (1972).

[18] लक्ष्मीशंकर व्यास (सं.) (1987) : 3.

[19] *सम्मेलन पत्रिका,* कार्तिक अगहन संवत 1972 (1915), भाग 3, अंक 2, 3.

[20] गौरीशंकर हीराचंद ओझा, 'वर्तमान नागरी अक्षरों की उत्पत्ति'; केशवदेव शास्त्री, 'देवनागरी लिपि'; गोपाल लाल खत्री, 'नागरी-प्रचार देशोन्नति का द्वार है'; गणपत जानकीराम दुबे, 'देसी रियासतों में नागरी अक्षरों का प्रचार', देखें, *प्रथम हिंदी-साहित्य-सम्मेलन (काशी) कार्यविवरण,* दूसरा भाग (प्रयाग, 1910).

बुंदेलखण्ड क्षेत्र में हिंदी के प्रचार कार्य का विवरण दिया।[21] सुधाकर द्विवेदी और मिश्र बंधु जैसे विद्वानों ने जहाँ हिंदी साहित्य के इतिहास पर लेख पढ़े, वहीं मुंशी देवी प्रसाद ने 'मुस्लिम काल' में हिंदी की स्थिति पर चर्चा की।[22] कुछ विद्वानों ने ब्रज और खड़ी बोली की कविताओं पर भी लेख प्रस्तुत किये।[23]

हिंदी साहित्य सम्मेलन का दूसरा वार्षिक अधिवेशन इलाहाबाद में 1911 में आयोजित हुआ। इस बीच सम्मेलन की गतिविधियाँ बनारस से स्थानांतरित होकर इलाहाबाद में ही केंद्रित हो चुकी थीं। सम्मेलन के प्रबंधन का ज़िम्मा उठाया पुरुषोत्तम दास टंडन (1882–1962) ने, जो आगे चल कर कई वर्षों तक सम्मेलन के प्रधानमंत्री रहे। दरअसल, सम्मेलन के काशी अधिवेशन में ही पारित एक प्रस्ताव के अंतर्गत पुरुषोत्तम दास टंडन को सम्मेलन का प्रधानमंत्री और मिश्रीलाल गुप्ता और पण्डित मुरलीधर मिश्रा को सहकारी मंत्री बनाया गया। यह प्रस्ताव सोमप्रकाश द्वारा प्रस्तुत और पण्डित सूर्यनारायण दीक्षित द्वारा अनुमोदित था।[24] सम्मेलन का कार्यालय इलाहाबाद में स्थापित हो जाने के बाद टंडन ने सम्मेलन की विविध गतिविधियों, उसके प्रचार-प्रसार को दिशा देने में सार्थक और अग्रणी भूमिका निभायी। संयुक्त प्रांत में कांग्रेस के अग्रणी नेता रहे टंडन का जन्म इलाहाबाद के ही एक खत्री परिवार में हुआ था। उनके पिता राधास्वामी सम्प्रदाय के अनुयायी थे।[25] टंडन इलाहाबाद से ही प्रकाशित होने वाले *मर्यादा* और *अभ्युदय* सरीखे पत्रों के सम्पादक भी रह चुके थे। किसान नेता के रूप में पुरुषोत्तम दास टंडन ने संयुक्त प्रांत में किसान सभाओं के संगठन में भी महती भूमिका निभायी। वे संयुक्त प्रांत किसान सभा के अध्यक्ष रहे और बिहार प्रांतीय किसान सभा के दूसरे अधिवेशन की उन्होंने अध्यक्षता भी की।[26]

हिंदी सहित तमाम भारतीय भाषाओं पर अंग्रेज़ी के दबाव का उल्लेख करते हुए मदन मोहन मालवीय ने 1919 में दिये गये अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि अंग्रेज़ी राज में देशी भाषाओं की उन्नति न हो सकी। इस दौरान अंग्रेज़ी भाषा की उन्नति तो अवश्य हुई, पर देशी भाषा उससे दब गयी। कुछ ऐसा ही विचार मराठी लेखक विष्णु चिपलूणकर (1850-1882) ने 1881 में अपनी प्रसिद्ध पत्रिका *निबंधमाला* में लिखे एक लेख 'आमच्या देशाची स्थिति' ('हमारे देश की स्थिति') में ज़ाहिर किये थे। चिपलूणकर ने लिखा था कि 'अंग्रेज़ी कविता से कुचल कर हमारी भारतीय मेधा नष्ट हो गयी है ... अंग्रेजों के क़ानूनों ने हमें कहीं का नहीं छोड़ा है'।

पहले अधिवेशन की भाँति ही सम्मेलन का दूसरा अधिवेशन भी विजयादशमी के अवसर पर आयोजित हुआ। इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाले अंग्रेज़ी पत्र *द लीडर* ने लोगों से सम्मेलन को हर सम्भव सहयोग देने और इसके आयोजन को सफल बनाने का अनुरोध किया।[27] दशहरे के दौरान

---

[21] संतराम शर्मा, 'पंजाब में हिंदी'; गोविंद दास, 'बुंदेलखण्ड में हिंदी', वही.

[22] सुधाकर द्विवेदी, 'हिंदी-साहित्य'; मिश्र बंधु, 'हिंदी-साहित्य का इतिहास'; देवी प्रसाद, 'मुसलमानी राजत्व में हिंदी', वही.

[23] देखें, राधाचरण गोस्वामी, 'ब्रजभाषा'; श्रीधर पाठक, 'खड़ीबोली की कविता', वही.

[24] वही.

[25] राधास्वामी सत्संग का आरम्भ 1861 ई. में स्वामी शिव दयाल (1818-78) ने किया था, जिन्हें 'स्वामीजी महाराज' भी कहा जाता था. उनकी शिक्षाओं में परमात्मा से साक्षात्कार के ज़रिये शाश्वत शांति पाने पर जोर दिया गया, इस प्रक्रिया को 'सूरत शब्द योग' कहा जाता था. स्वामी शिव दयाल के शिष्य सालिग राम ने, जिन्हें *हुज़ूर महाराज* भी कहा जाता था, राधास्वामी सत्संग के प्रसार में उल्लेखनीय योगदान दिया. हिंदी में गद्य और पद्य दोनों विधाओं में राधास्वामी सम्प्रदाय और अध्यात्म से जुड़ी किताबें (जैसे *प्रेम बानी और प्रेम पत्र*) लिखने के अलावा सालिग राम ने उर्दू और अंग्रेज़ी में भी किताबें लिखीं. देखें, केनेथ डबल्यू. जोंस (1989) : 72-77.

[26] वर्ष 1937 में चुनावों के बाद संयुक्त प्रांत में कांग्रेस की सरकार बनने के बाद किसानों की समस्याओं और जमीन संबंधी मामलों की जाँच के लिए एक समिति बनाई गयी. पुरुषोत्तम दस टंडन इस समिति के समन्वयक थे और इस समिति के अन्य सदस्य थे : लाल बहादुर शास्त्री, सम्पूर्णानन्द और वेंकटेश नारायण तिवारी. देखें, लक्ष्मीनारायण सिंह (1982) : 51.

[27] *द लीडर,* 4 जून 1911, *नेटिव पेपर्स,* 1911 : 564.

सम्मेलन के आयोजन के संबंध में *लीडर* ने यह टिप्पणी भी की कि अवसर-विशेष पर सम्मेलन के आयोजन को हिंदू-मुस्लिम प्रश्न से जोड़ कर नहीं देखा जाना चाहिए। सम्मेलन के इस अधिवेशन की अध्यक्षता की पण्डित गोविंदनारायण मिश्र ने।[28] अपने अध्यक्षीय भाषण में, गोविंदनारायण मिश्र ने 'हिंदी' और 'हिंदू' इन दो शब्दों की व्युत्पत्ति पर एक लम्बा विमर्श किया। उनका तर्क था कि ये दोनों ही शब्द अपेक्षाकृत नये हैं क्योंकि श्रुति-स्मृति एवं पुराणों में इनका ज़िक्र नहीं मिलता।[29] अपनी बातों का समर्थन करने हेतु उन्होंने राजेंद्र लाल मित्र की प्रसिद्ध पुस्तक *इण्डो आर्यंस* से भी उद्धरण दिये। उनके भाषण की विस्तृत विवेचना हम लेख के अगले हिस्से में करेंगे।

सम्मेलन के दो अधिवेशन क्रमश: बनारस और इलाहाबाद में आयोजित होने के बाद सम्मेलन का तीसरा अधिवेशन वर्ष 1912 में कलकत्ता में आयोजित हुआ। सम्मेलन के इस अधिवेशन की अध्यक्षता की बदरी नारायण उपाध्याय चौधरी 'प्रेमघन' (1855-1922) ने। 'प्रेमघन' कवियों और साहित्यकारों के उस समूह के प्रमुख सदस्य थे, जिसे 'भारतेंदु मण्डल' के नाम से जाना जाता था।[30] 'प्रेमघन' ने साहित्य की विविध विधाओं और शैलियों यथा कविता, नाटक, निबंध आदि में अधिकारपूर्वक लेखन करने के साथ ही *आनंद कादम्बिनी* (मासिक) और *नागरी नीरद* (साप्ताहिक) सरीखी हिंदी पत्रिकाओं का भी सफल सम्पादन किया। ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों ही भाषाओं में 'प्रेमघन' ने कविताएँ लिखीं। ब्रजभाषा के साथ खड़ी बोली में भी कविता लिखने का उनका निर्णय उल्लेखनीय है क्योंकि भारतेंदु और उनके समकालीन लेखकों का मानना था कि कविता सिर्फ़ ब्रजभाषा में ही सम्भव है, खड़ीबोली में नहीं।[31] 'प्रेमघन' ने उर्दू में भी 'अब्र' उपनाम से रचनाएँ लिखीं।[32]

आगे चलकर सम्मेलन के अधिवेशनों का सभापतित्व करने वाले लोगों में प्रमुख थे : श्रीधर पाठक, महात्मा मुंशीराम, पण्डित रामावतार शर्मा, महात्मा गाँधी, विष्णुदत्त शुक्ल, भगवान दास, पण्डित जगन्नाथ चतुर्वेदी, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', माधव राव सप्रे, अमृतलाल चक्रवर्ती, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, पद्म सिंह शर्मा, गणेश शंकर विद्यार्थी, जगन्नाथ दास रत्नाकर, किशोरीलाल गोस्वामी और श्यामबिहारी मिश्र आदि।

इस दौरान सम्मेलन ने देश के अन्य हिस्सों में सक्रिय भाषाई संगठनों से भी सम्पर्क स्थापित किया। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अलावा इन संगठनों में प्रमुख थे : आरा नागरी प्रचारिणी सभा, बिहार हिंदी साहित्य सम्मेलन, दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, मध्य भारत हिंदी साहित्य समिति आदि। बिहार प्रांत के आरा में स्थित आरा नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना अक्तूबर, 1901 में हुई थी। इसकी स्थापना और उसके विकास में रामकृष्ण दास, पण्डित सकलनारायण शर्मा, देव कुमार, जैनेन्द्र किशोर, हरसू प्रसाद सिंह आदि की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। सभा ने *साहित्य पत्रिका* और *नागरी हितैषिणी* सरीखी साहित्यिक पत्रिकाओं का भी प्रकाशन किया।[33] मध्य भारत हिंदी साहित्य समिति की स्थापना इंदौर राज्य में 1914 में हुई थी। इंदौर राज्य ने वर्ष 1904 में ही हिंदी को आधिकारिक भाषा घोषित कर दिया था और साथ ही, वहाँ मोडी लिपि की जगह नागरी लिपि का व्यवहार भी शुरू

[28] वर्ष 1859 में जन्मे गोविंदनारायण मिश्र हिंदी के उद्भट विद्वान थे एवं महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचंद्र शुक्ल, पद्म सिंह शर्मा सरीखे हिंदी के विद्वान भी उन्हें अपना गुरु मानते थे.

[29] लक्ष्मीशंकर व्यास (सं.) (1987) : 27.

[30] इस मण्डल के अन्य प्रमुख सदस्य थे : प्रताप नारायण मिश्र, ठाकुर जगमोहन सिंह, लाला श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट, पण्डित अंबिकादत्त व्यास और पण्डित राधाचरण गोस्वामी. देखें, रामचन्द्र शुक्ल (1929) : 332.

[31] खड़ी बोली में कविता लिखने के पक्ष में आंदोलन अयोध्या प्रसाद खत्री ने चलाया था और 1887 में उन्होंने ही *खड़ी बोली पद्य* के पहले संकलन, खड़ी बोली का पद्य का सपादन भी किया. अयोध्या प्रसाद खत्री और खड़ी बोली पद्य के आंदोलन के बारे में विस्तृत विवरण के लिए देखे, रामनिरंजन परिमलेन्दु (2003).

[32] शिवपूजन सहाय (1994) : 30.

[33] शुकदेव सिंह (1931), 'आरा नागरी प्रचारिणी सभा', *विशाल भारत*, मई 1931, भाग 7, अंक 5 : 672-675.
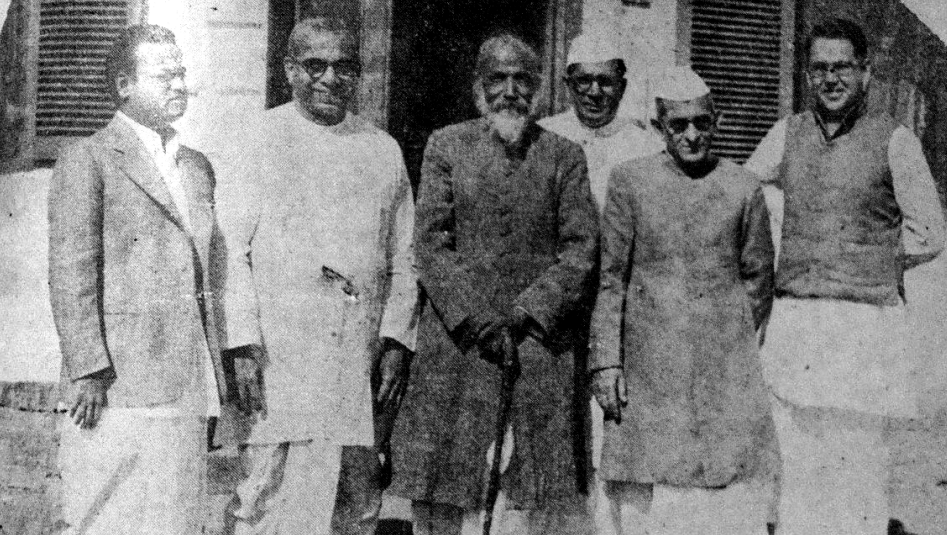
बाएँ से : पुरुषोत्तमदास टंडन, सेठ गोविंद दास, के.एम. मुंशी और अज्ञेय

हो गया था। इंदौर के अलावा अन्य देशी रियासतों ने भी मसलन, ग्वालियर, सीतामऊ, रीवाँ, देवास, मैहर, झाबुआ, राजगढ़ और डूगरपुर आदि ने भी मध्य भारत हिंदी साहित्य समिति की गतिविधियों को प्रोत्साहन दिया।[34] बिहार हिंदी साहित्य सम्मेलन की स्थापना वर्ष 1919 में मुज़फ़्फ़रपुर में हुई थी। बाद में, बिहार हिंदी साहित्य सम्मेलन पटना से संचालित होने लगा। राजेंद्र प्रसाद, पीर मुहम्मद मूनिस, वैद्यनाथ प्रसाद सिंह और लतीफ़ हुसैन नटवर आदि ने बिहार हिंदी साहित्य सम्मेलन की स्थापना में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। प्रसिद्ध आलोचक नलिनविलोचन शर्मा और यशस्वी लेखक व पत्रकार शिवपूजन सहाय भी बिहार हिंदी साहित्य सम्मेलन के सक्रिय सदस्य थे।[35]

इन भाषाई संगठनों के अतिरिक्त ग़ैर-हिंदीभाषी समुदायों ने भी हिंदी और देवनागरी लिपि के प्रचार-प्रसार में अग्रणी योगदान दिया। इन ग़ैर-हिंदीभाषी समुदायों में प्रमुख थे मराठी, गुजराती और बंगाली। आश्चर्य नहीं कि सम्मेलन की स्थापना के पहले पंद्रह वर्षों में इन तीनों भाषाई समुदायों के व्यक्ति ही सम्मेलन के सभापति रहे। ये थे : महात्मा गाँधी (1918, इंदौर अधिवेशन), माधव राव सप्रे (1924, देहरादून अधिवेशन) और अमृतलाल चक्रवर्ती (1925, वृंदावन अधिवेशन)। अमृतलाल चक्रवर्ती के अतिरिक्त बंगाली समुदाय के जिन अन्य लोगों ने हिंदी के प्रचार-प्रसार में उल्लेखनीय योगदान दिया, वे थे : गिरिजा कुमार घोष, कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय, नलिनीमोहन सान्याल, ब्रजरत्न भट्टाचार्य, द्वारकानाथ मैत्र, श्रीमती हेमंत कुमारी चौधरी और बंगमहिला (राजेंद्र बाला घोष) आदि। यशस्वी पत्रकार बाबूराव विष्णु पराड़कर एक अन्य मराठीभाषी थे, जो सम्मेलन के अध्यक्ष रहे।

हिंदी और उर्दू : वाद-विवाद और अलगाव के तर्क

1911 में इलाहाबाद में हुए हिंदी साहित्य सम्मेलन के दूसरे अधिवेशन का सभापतित्व करते हुए गोविंद नारायण मिश्र ने अपने अध्यक्षीय भाषण में हिंदी और उर्दू के बारे में अपनी राय उपस्थित श्रोताओं के

[34] के. पी. दीक्षित 'कुसुमाकर' (1931), 'इंदौर में हिंदी प्रचार और मध्य भारत हिंदी साहित्य समिति', *विशाल भारत,* मई 1931, भाग 7, अंक 5 : 592-598.

[35] देखें, लक्ष्मीनारायण सुधांशु (1956); साथ ही बिहार में हिंदी आंदोलन के ऐतिहासिक विवरण हेतु देखें, हितेन्द्र पटेल (2011) : 139-162.

सामने रखी। उनका मानना था कि मध्यकाल में, जिसे वे 'मुसलमानों का राज्यकाल' कहते हैं, 'फ़ारसी, अरबी और तुर्की आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों की भरमार से हिंदी की विकृति और भ्रष्टता ... निस्संदेह विशेष बढ़ गयी थी'। सिर्फ़ भाषा ही नहीं, मध्यकाल में धार्मिक स्थिति के संदर्भ में भी उनका दृष्टिकोण समान था यानी उनके अनुसार, 'मुसलमानों के राज्य में तो भारतीय प्रजा के कई वंशों की भी ऐसी ही दुर्दशा बलपूर्वक की गयी थी और भ्रष्ट कर, बलपूर्वक मुसलमान बनाए हुए उन हिंदुओं की गिनती आज भी भारतवर्ष के सब प्रांत में ही लाखों और करोड़ों तक पहुँची हुई दिखती है'।[36] पर कुछ 'भिन्न प्रकृति के द्विविध मुसलमान' भी थे, जो हिंदी में रचना करते थे। इन कवियों की रचनाओं में अरबी, फ़ारसी, तुर्की आदि के शब्द नहीं हैं, जिन्हें गोविंद नारायण मिश्र 'म्लेच्छ भाषा' मानते हैं। इन रचनाकारों से हिंदी का ज़रूर कुछ उपकार ही हुआ, पर गोविंद नारायण मिश्र के अनुसार :

> अरबी-फ़ारसी पढ़े लिखे मुसलमानों के सिवाय, हिंदू भी स्वार्थवश, मातृभाषा से मुँह तोड़ विदेशीय भाषा की शिक्षा में प्रवृत्त हो, उसका क्रम से प्रचार भी करने लगे। अपनी भाषा को भी इन्होंने दुरंगी चितकबरी बनाना आरम्भ किया। साथ ही मुसलमानों ने भी बढ़ा कर हाथ मारे और देखते ही देखते पंजाब, पश्चिममोत्तर और मध्यदेश के अधिकांश निवासियों में मातृभाषा को घृणा की दृष्टि से देखने की कुचाल चल पड़ी।[37]

कुछ लोगों का यह मानना था कि हिंदी और उर्दू एक ही भाषा की दो शैलियाँ हैं जिनमें सिर्फ़ लिपिमात्र का अंतर है। उनकी आलोचना करते हुए गोविंद नारायण मिश्र ने कहा कि 'हिंदी से उर्दू को अभिन्न और एकरूप मानना सोलहों आने अनुचित है'। उन्होंने आगे यह भी जोड़ा कि :

> सर्वथा विदेशीय वाक्यावली से विकृत, प्राय: सब बातों में उलटी ही चलने वाली स्वधर्मभ्रष्ट उर्दू को पूरे परिवर्तित विचित्ररूप में सुस्पष्ट भिन्नाकृति की प्रत्यक्ष देख कर भी अब बुद्धिमान उसे हिंदी से अभिन्न मान, कैसे अपना सकते हैं?[38]

उनके अनुसार उर्दू महज आलिम फ़ाज़िल और पढ़े-लिखे मुसलमानों की ही भाषा थी और यह भी कि 'सर्वसाधारण की और भारत की राष्ट्रभाषा उर्दू नहीं है और न कभी हो ही सकेगी'। उर्दू के प्रति व्यक्त की गयी गोविंद नारायण मिश्र की टिप्पणियों और उर्दू को विदेशी भाषा बताने पर उर्दू के पत्रों ने कड़ी आपत्ति जतायी।[39] विदेशी शब्दों का बहिष्कार करने के गोविंद नारायण मिश्र के सुझाव की आलोचना करते हुए अंग्रेज़ी में छपने वाले पत्र *लीडर* ने उनके दृष्टिकोण को 'संकीर्ण और सिरे-से ग़लत' बताया और लिखा कि 'अगर समय के साथ क़दम मिला कर भाषा को विकसित होना है और नये-नये विचारों से समृद्ध होना है तो उसमें विदेशी शब्दों को सम्मिलित करना ही होगा'।[40] हिंदी-उर्दू के विवाद पर अकबर इलाहाबादी (1846-1921) ने अपने ख़ास अंदाज़ में कुछ इस तरह प्रतिक्रिया दी थी :

हम उर्दू को अरबी क्यों न करें हिंदी को वह भाषा क्यों न करें
झगड़े के लिए अख़बारों में मज़मून तराशा क्यों न करें
आपस में अदावत कुछ भी नहीं लेकिन इक अखाड़ा क़ायम है
जब इससे फ़लक का दिल बहले हम लोग तमाशा क्यों न करें

बीसवीं सदी के आरम्भिक वर्षों में हिंदी-उर्दू के बीच गहराते विवाद का एक और उदाहरण है संयुक्त प्रांत के लेफ़्टिनेंट गवर्नर सर जेम्स मेस्टन (1865-1943) द्वारा, जो 1912 से 1918 तक संयुक्त प्रांत के लेफ़्टिनेंट गवर्नर रहे, काशी नागरी प्रचारिणी सभा में दिये गये भाषण पर हिंदी और उर्दू

[36] लक्ष्मीशंकर व्यास (सं.) (1987) : 39.
[37] वही : 39-40.
[38] वही : 48.
[39] सभापति के अध्यक्षीय भाषण की आलोचना करने के अलावा इन पत्रों ने सम्मेलन के प्रस्तावों को भी 'अव्यावहारिक' बताया. देखें, *मशरिक़,* 17 अक्तूबर, 1911; *जुल करनैन,* 7 नवम्बर, 1911, *नेटिव पेपर्स,* 1911 : 939, 996.
[40] द *लीडर,* 28 सितम्बर, 1911, नेटिव पेपर्स, 1911 : 902.

हिंदी साहित्य सम्मेलन का कराची अधिवेशन

के पत्रों की परस्पर विरोधी प्रतिक्रिया। जेम्स मेस्टन ने अपने भाषण में प्राथमिक स्तर के स्कूलों की हिंदी और उर्दू माध्यम की पाठ्यपुस्तकों में 'सहज-सरल भाषा' का प्रयोग करने का सुझाव दिया था। मेस्टन के इस भाषण को उद्धृत करते हुए, उर्दू के पत्रों ने हिंदी माध्यम में लिखे गये रीडरों के साथ ही हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं की आलोचना करते हुए लिखा कि वे हिंदी भाषा को संस्कृतनिष्ठ बना रहे हैं। वहीं दूसरी ओर, हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं ने उर्दू के पत्रों की आलोचना करते हुए लिखा कि उनमें फ़ारसी और अरबी के कठिन शब्दों का प्रयोग बढ़ता ही जा रहा है।[41]

संयुक्त प्रांत के प्राइमरी के स्कूलों में पढ़ाए जाने वाले हिंदी रीडरों की भाषा पर टिप्पणी करते हुए बालमुकुंद बाजपेयी ने *मर्यादा* में लिखा कि 'इन रीडरों की भाषा वास्तव में उर्दू है, जिसमें अरबी और फ़ारसी के शब्द भरे हुए हैं'। इसी लेख में उन्होंने यह शिकायत भी की कि नागरी लिपि के माध्यम से प्राथमिक कक्षाओं के छात्रों को उर्दू पढ़ाई जा रही है, जो 'हिंदुओं की भाषा' नहीं है।[42] भाषा को धर्म से जोड़ने की वह प्रक्रिया जो उन्नीसवीं सदी के आख़िरी दशकों में शुरू हुई थी, धीरे-धीरे अब एक स्वीकार्य 'तथ्य' सरीखी बनती जा रही थी। जिसकी अभिव्यक्ति बालमुकुंद बाजपेयी सरीखे लेखक अपने लेखों, टिप्पणियों आदि में कर रहे थे। हिंदी को हिंदुओं की भाषा मानते हुए, इलाहाबाद से छपने वाले *अभ्युदय* ने भी लिखा कि वह उर्दू का विरोधी नहीं है, पर उसका दृढ़ विश्वास है कि 'हिंदी का प्रयोग हिंदुओं का परिचय उनकी *प्राचीन संस्कृति* से कराएगा और तभी उनकी भाषा समूचे देश भर में समझी जा सकेगी'। स्पष्ट है कि देश भर के अलग-अलग हिस्सों में व्याप्त धार्मिक और सांस्कृतिक विविधता की अनदेखी करते हुए *अभ्युदय* की यह अपील सिर्फ़ भाषा को धार्मिक अस्मिता से जोड़ कर उसे राष्ट्रव्यापी बना देने की सोच से उपजी थी। इसी टिप्पणी में हिंदुओं से यह भी कहा गया कि वे 'हिंदी को देश की राष्ट्रभाषा तभी बना सकते हैं, जब वे इसे अपने दिन-प्रतिदिन होने वाले संवाद और अपने विचारों को अभिव्यक्त करने का जरिया बनाएँगे'।[43] हिंदुओं से अपनी

---

[41] *अल बशीर,* 4 जनवरी, 1913, *नेटिव पेपर्स,* 1913 : 114; *सरस्वती,* फ़रवरी 1913, *नेटिव पेपर्स,* 1913 : 188.

[42] नेटिव पेपर्स, 1915 : 406-407.

[43] *अभ्युदय,* 18 जून, 1915, *नेटिव पेपर्स,* 1915 : 641.

रोज़मर्रा की भाषा में हिंदी का इस्तेमाल करने की यह अपील हिंदी के समर्थक समूहों के उस असुरक्षा भाव की ओर भी इशारा करती है, जिसमें उन्हें लगातार इस तथ्य से टकराना होता होगा कि जिस 'हिंदी' को वे हिंदुओं की भाषा बता रहे हैं, वह संस्कृतनिष्ठ हिंदी, उन हिंदुओं की भी रोज़मर्रा के संवादों और उनके विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं है।

भाषा को धर्म से जोड़ने की इस प्रवृत्ति से हटकर सम्मेलन के कुछ सभापतियों ने भाषा को धार्मिक अस्मिता से जोड़ने को ग़लत बताया। ऐसे सभापतियों में उल्लेखनीय थे मदन मोहन मालवीय और अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'। इस संदर्भ में, हमें यह याद रखने की भी ज़रूरत है कि मदन मोहन मालवीय हिंदी-नागरी आंदोलन के अग्रणी नेता भी थे, इस आंदोलन में उनकी सक्रिय भूमिका की चर्चा लेख में पहले की जा चुकी है। बम्बई में 1919 में आयोजित हुए सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी की वकालत करते हुए उन्होंने कहा कि हमें भी 'सब राष्ट्रीय कामों के लिए एक भाषा को पकड़ना चाहिए'। इस संदर्भ में मदन मोहन मालवीय ने हिंदी को ही राष्ट्रभाषा बनने के योग्य बताया :

> अंग्रेज़ी उपनिवेशों में जहाँ-जहाँ हिंदुस्तानी बसते हैं, हिंदी भाषा का ही प्रयोग किया जाता है ... मेरा मतलब उस भाषा से है, जिसे हिंदू और मुसलमान दोनों बोलते हैं...उसे चाहे आप उर्दू कहें, हिंदी कहें, अथवा हिंदुस्तानी कहें— वह है एक भाषा। उसके नाम भर तीन हैं। व्याकरण भी एक ही है। अर्थात् जड़ तीनों की एक ही है।[44]

पद्म सिंह शर्मा ने 1928 में मुजफ़्फ़रपुर में आयोजित हिंदी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन में दिये गये अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि उर्दू और हिंदी में कोई ऐसा भेद नहीं है।[45] 'उर्दू की उत्पत्ति ब्रजभाषा से हुई है, हिंदी ने भी उसी से जन्म लिया है, दोनों जुड़वाँ बहनें हैं'। उनका कहना था कि आरम्भ में हिंदी और उर्दू एक थी, केवल लिपि का भेद था। हिंदी-उर्दू की समानता को दर्शाने हेतु, अपने अध्यक्षीय भाषण में, उन्होंने मीर तक़ी मीर और सैयद इंशा आदि के उद्धरण भी दिये। उनके अनुसार दिल्ली में प्रचलित उर्दू में ब्रज और खड़ीबोली का जितना असर देखने को मिलता था, उतना लखनऊ में नहीं! लखनऊ की उर्दू पर टिप्पणी करते हुए पद्म सिंह शर्मा ने कहा कि 'लखनऊ वालों ने जानबूझ कर प्रयत्नपूर्वक अपनी भाषा में दिल्ली की भाषा से भेद किया है'।

हालाँकि, उर्दू के पत्रों की बात करते हुए पद्म सिंह शर्मा ने उन्हें 'मुस्लिम-पत्र' और 'हिंदू-उर्दू पत्र' की दो बिलकुल अतार्किक श्रेणियों में बाँट दिया और कहा कि 'उर्दू भाषा को क्लिष्ट और भ्रष्ट करने में मुस्लिम पत्र (और उनकी देखा-देखी कुछ हिंदू पत्र भी) एक-दूसरे से बढ़े जा रहे हैं'। हालाँकि अपने भाषण में उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि आख़िर उर्दू के किसी पत्र को मुस्लिम या हिंदू पत्र कहने का आधार क्या है? आगे उन्होंने इन तथाकथित 'मुस्लिम-पत्रों' पर आरोप लगाते हुए कहा :

> यह मुस्लिम-पत्र हिंदी से ही नहीं, उर्दू से भी उर्दू को अलग करने में दिनों-दिन बड़ी मुस्तैदी से लगे हुए हैं। वह ख़ालिस मुस्लिम संस्कृति के प्रचारक हैं, भारतीयता से उनका इतना ही वास्ता है कि भारत में प्रकाशित होते हैं और बस। हिंदी पत्रों में उर्दू और फ़ारसी साहित्य पर बराबर लेख निकलते हैं, उर्दू कविताएँ उद्धृत होती हैं। हिंदी में प्राचीन और नवीन उर्दू-काव्यों का सार-संग्रह प्रकाशित होता है, पर उर्दू मासिक पत्रों में हिंदी या संस्कृत साहित्य की चर्चा तक नहीं की जाती।[46]

पद्म सिंह शर्मा ने 'हिंदुस्तानी' को अंग्रेज़ों के शातिर दिमाग़ की उपज बताया और इसे

---

[44] लक्ष्मीशंकर व्यास (सं.) (1987) : 203. हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का समर्थन करते हुए अपने अध्यक्षीय भाषण में विष्णुदत्त शुक्ल ने हिंदी में उर्दू और फ़ारसी के शब्दों के प्रयोग की हिमायत की. देखें, वही : 232-33.

[45] पद्म सिंह शर्मा (1877-1932) हिंदी के प्रसिद्ध विद्वान और आलोचक थे और उन्होंने गुरुकुल काँगड़ी तथा ज्वालापुर महाविद्यालय में अध्यापन कार्य किया था. *सरस्वती* जैसी हिंदी की तमाम पत्रिकाओं में नियमित रूप से लिखने के साथ-साथ उन्होंने *भारतोदय और समालोचक* सरीखी पत्रिकाओं का सम्पादन भी किया.

[46] विद्यानिवास मिश्र (सं.) (2001) : 129.

विभाजनकारी प्रवृत्ति वाला ठहराया।[47] उनके अनुसार, बिहार में उस समय चल रहे हिंदी–उर्दू विवाद के पीछे अंग्रेज़ी सरकार की 'बाँटो और राज करो' की नीति काम कर रही थी। साथ ही, उन्होंने यह भी कहा कि 'हमारे मुसलमान भाइयों को यह भ्रम हो गया है कि हिंदू उर्दू का विरोध करने के लिए ही हिंदी का प्रचार कर रहे हैं। उन्हें जानना चाहिए कि आज भी लाखों हिंदू उर्दू पढ़ते–लिखते हैं। हिंदुओं ने उर्दू की सेवा मुसलमानों से कम नहीं की'।[48]

लिपि का सवाल

उन्नीसवीं सदी के आख़िरी दशकों में हिंदी–नागरी आंदोलन के समर्थकों ने यह माँग उठाई कि नागरी लिपि में लिखी हिंदी को अदालतों, नगरपालिकाओं की कार्यवाहियों में जगह मिलनी ही चाहिए। साथ–ही–साथ इसे स्कूलों में शिक्षण का माध्यम और स्कूली पाठ्यपुस्तकों की भाषा भी बनाया जाना चाहिए। *हिंदी प्रदीप* सरीखी हिंदी पत्रिकाओं में इस आशय के लेख, सम्पादकीय टिप्पणियाँ और पत्र लगातार प्रकाशित होते रहते थे। *हिंदी प्रदीप* के सम्पादक बालकृष्ण भट्ट ने अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों में अदालतों और नगरपालिकाओं के दफ़्तर में हिंदी के प्रयोग की वकालत की।[49] अपने एक लेख में बालकृष्ण भट्ट ने ज़ोर देकर कहा कि अगर उर्दू लिपि को हटाकर किसी अन्य लिपि का प्रयोग करना हो, तो वह लिपि देवनागरी ही हो सकती है। उन्होंने कैथी लिपि के विकल्प को यह कहते हुए ख़ारिज कर दिया कि सिवाय पटवारियों के और कोई भी कैथी लिपि से परिचित नहीं है, जबकि देवनागरी से परिचित लोगों की संख्या कहीं अधिक है।

वर्ष 1900 में लेफ़्टिनेंट–गवर्नर एंथनी मैक्डोनल ने एक प्रस्ताव के ज़रिये अदालतों में नागरी लिपि में लिखी हिंदी के प्रयोग की शुरुआत की। पर इससे हिंदी और उर्दू के बीच जारी विवाद का ख़ात्मा नहीं हुआ। जनगणना हो या अदालतों के पत्र हों, भाषा और लिपि का यह मसला बना ही रहा। 1910 में हो रही जनगणना में भाषा के कॉलम में हिंदी या उर्दू को दर्ज करने

[47] पर आश्चर्यजनक रूप से चार साल बाद हिंदुस्तानी एकेडमी में दिये अपने भाषण में पद्म सिंह शर्मा ने हिंदुस्तानी के मामले में कुछ अलग ही राय व्यक्त की. यहाँ उनका कहना था कि 'विशुद्ध हिंदी और फ़सीह उर्दू–ए–मुअल्ला के बीच दरम्यानी सूरत हिंदुस्तानी है.' देखें, पद्म सिंह शर्मा (1932 [2009]) : 12.

[48] विद्यानिवास मिश्र (सं.) (2001) : 132.

[49] देखें, बालकृष्ण भट्ट, 'म्यूनिसिपलिटि के दफ़्तर में हिंदी क्यों नहीं', *हिंदी प्रदीप,* सितम्बर 1885.

"यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः।"
भवभूति।

प्रथम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

काशी।

कार्यविवरण–दूसरा भाग।

[सम्मेलन में उपस्थित लेखों और कविताओं का संग्रह।]

सम्मेलन की स्वागतकारिणी समिति द्वारा प्रकाशित।

१६१०

इंडियन प्रेस, प्रयाग में मुद्रित।

सम्मेलन का पहले अधिवेशन का कार्यविवरण

1912 के आरम्भ में संयुक्त प्रांत के उर्दू अख़बारों ने अदालतों के नोटिस और समन को नागरी लिपि में लिखे जाने पर आपत्ति जतायी। साथ ही, डाक–विभाग के अधिकारियों से ... अपनी शिकायत दर्ज कराते हुए कहा कि इसकी वजह से जनता को काफ़ी असुविधा हो रही है। उर्दू के अख़बारों द्वारा नागरी लिपि के इस विरोध को *अभ्युदय* ने 'अतार्किक' बताया। यह कहते हुए भी कि हिंदी–उर्दू का यह विवाद कोई 'राजनीतिक मुद्दा' नहीं है, *अभ्युदय* ने इसे सीधे–सीधे राजनीति और धर्म से जोड़ दिया और भाषा और लिपि के विवाद को साम्प्रदायिक मोड़ देते हुए लिखा कि 'हिंदू अब अधिक सहिष्णु हुए हैं, जबकि मुसलमान अब भी शासक नस्ल होने के गर्व में चूर हैं और राष्ट्रीय आंदोलन में हिंदुओं के साथ हाथ मिलाने को अपनी प्रतिष्ठा को गिराना समझते हैं'।

को लेकर विवाद चल ही रहा था कि मद्रास से छपने वाली पत्रिका *इंडियन रिव्यू* में लिखते हुए रेवंड नौल्स ने सभी भारतीय भाषाओं के लिए रोमन लिपि के प्रयोग का सुझाव दिया। रेवंड नौल्स के इस सुझाव के विरुद्ध संयुक्त प्रांत के अख़बारों और पत्रिकाओं ने तीखी प्रतिक्रिया दी। हिंदी और उर्दू की पत्रिकाओं ने इस सुझाव को क्रमश: देवनागरी लिपि और फ़ारसी लिपि पर हमले के रूप में देखा। *अभ्युदय* और *सरस्वती* ने देवनागरी लिपि का पक्ष लेते हुए और *अवध अख़बार* ने फ़ारसी लिपि का पक्ष लेते हुए लेख लिखे।[50] नागरी प्रचारिणी सभा और हिंदी के अनेक समाचार-पत्रों व पत्रिकाओं ने भारत सरकार से नयी मुद्राओं और सिक्कों पर भी नागरी लिपि का इस्तेमाल करने का आग्रह किया।[51]

1912 के आरम्भ में संयुक्त प्रांत के उर्दू अख़बारों ने अदालतों के नोटिस और समन को नागरी लिपि में लिखे जाने पर आपत्ति जतायी। साथ ही, डाक-विभाग के अधिकारियों से नागरी लिपि में लिखे मनी-ऑर्डर फ़ॉर्म के वितरित किये जाने पर अपनी शिकायत दर्ज कराते हुए कहा कि इसकी वजह से जनता को काफ़ी असुविधा हो रही है।[52] उर्दू के अख़बारों द्वारा नागरी लिपि के इस विरोध को *अभ्युदय* ने 'अतार्किक' बताया। यह कहते हुए भी कि हिंदी-उर्दू का यह विवाद कोई 'राजनीतिक मुद्दा' नहीं है, *अभ्युदय* ने इसे सीधे-सीधे राजनीति और धर्म से जोड़ दिया और भाषा और लिपि के विवाद को साम्प्रदायिक मोड़ देते हुए लिखा कि 'हिंदू अब अधिक सहिष्णु हुए हैं, जबकि मुसलमान अब भी शासक नस्ल होने के गर्व में चूर हैं और राष्ट्रीय आंदोलन में हिंदुओं के साथ हाथ मिलाने को अपनी प्रतिष्ठा को गिराना समझते हैं'।[53]

हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापति के रूप में दिये गये अपने भाषण में श्यामसुंदर दास ने भी वकीलों, आमिल और मुंशियों की यह कहकर आलोचना की कि अदालतों में देवनागरी के इस्तेमाल के रास्ते में असली रुकावट वे ही हैं। साथ ही, सिक्कों और नोटों पर देवनागरी लिपि को जगह न दिये जाने पर उन्होंने सरकार को भी आड़े हाथों लिया। श्यामसुंदर दास ने भारतीय भाषाओं के लिए रोमन लिपि के प्रयोग के सुझाव को सिरे-से ख़ारिज करते हुए कहा कि 'ऐसा करना एक विनाशकारी क़दम होगा'।[54] भाषा और लिपि के प्रश्न पर अपने विचार रखते हुए अमृतलाल चक्रवर्ती ने 1926 में वृंदावन में हुए हिंदी साहित्य सम्मेलन के अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा :

> मेरी समझ में तो हिंदी और उर्दू दो नहीं, एक ही भाषा है। भाषा पर अपने दबाव रखने वाला व्याकरण दोनों— उर्दू और हिंदी का एक ही प्रकार के नियमों का है ... ऐसे भी हिंदी और उर्दू के लेखक अनेक हैं, जो प्राय: एक ही तरह की भाषा क्रमानुसार नागरी और फ़ारसी अक्षरों में लिखते हैं। इसलिए दोनों भाषाओं का मुख्यभेद केवल अक्षरों का ही है।[55]

अंत में, अमृतलाल चक्रवर्ती ने हिंदी और उर्दू दोनों के लिए ही नागरी लिपि के इस्तेमाल का सुझाव दिया।[56] इसी प्रकार, श्यामबिहारी मिश्र, सैयाजी राव गायकवाड़ ने भी अपने अध्यक्षीय भाषणों में नागरी

---

[50] *नेटिव पेपर्स,* 1910 : 667; 695.

[51] *भारत जीवन,* 27 फ़रवरी, 1911, *नेटिव पेपर्स,* 1911 : 184.

[52] *सहीफ़ा,* 5 फ़रवरी, 1912; *नैयर-ए-आज़म,* 5 फ़रवरी, 1912, *नेटिव पेपर्स,* 1912 : 146.

[53] अभ्युदय, 1 सितम्बर, 1912, *नेटिव पेपर्स,* 1912 : 836. इसी तरह *वैश्य* हितकारी ने मार्च 1912 में हिंदी भाषा और नागरी लिपि के प्रचार-प्रसार के लिए नागरी प्रचारक फंड की स्थापना की भी माँग की. देखें, *नेटिव पेपर्स,* 1912 : 352. *भारत बंधु* ने संयुक्त प्रांत में साक्षरता बढ़ाने के उद्देश्य से हिंदुओं से नागरी लिपि और हिंदी भाषा का इस्तेमाल स्कूलों और अदालतों में सुनिश्चित कराने के लिए आग्रह किया. *भारत बंधु,* 8 मार्च, 1918, *नेटिव पेपर्स,* 1918 : 201.

[54] लक्ष्मीशंकर व्यास (सं.) (1987) : 167.

[55] विद्यानिवास मिश्र (सं.) (2001) : 66.

[56] अमृतलाल चक्रवर्ती को, जिनकी मातृभाषा बांग्ला थी, हिंदी में लिखने की प्रेरणा *प्रयाग समाचार* के सम्पादक पण्डित देवकीनंदन त्रिपाठी से मिली. आगे चलकर अमृतलाल चक्रवर्ती ने *श्री वेंकटेश्वर समाचार, हिंदी बंगवासी, भारत मित्र, निगमागम चंद्रिका* (भारत धर्म महामण्डल का मुखपत्र) सरीखी पत्रिकाओं का भी सम्पादन किया. अमृतलाल चक्रवर्ती के बारे में विस्तृत विवरण हेतु देखें, सहाय (1994) : 38-44.

लिपि के प्रयोग पर ज़ोर दिया। प्रसिद्ध इतिहासकार गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने भी सम्मेलन के अपने अध्यक्षीय भाषण में समूचे राष्ट्र के लिए एक लिपि की वकालत की। उन्होंने देवनागरी को 'राष्ट्रलिपि' के रूप में देखा। गौरीशंकर ओझा भारतीय लिपियों की उत्पत्ति और विकास पर 1894 में ही *प्राचीन लिपिमाला* नामक पुस्तक लिख चुके थे। 1918 में उन्होंने इस पुस्तक का एक संशोधित संस्करण *भारतीय प्राचीन लिपिमाला* शीर्षक से प्रकाशित किया। इस पुस्तक में उन्होंने नागरी लिपि के प्रयोग का पहला साक्ष्य दसवीं सदी में प्राप्त होने का प्रमाण दिया। उनके अनुसार प्रतिहार शासक महेंद्रपाल प्रथम द्वारा 955 में जारी किये गये अनुदानों में नागरी लिपि का पहली बार प्रयोग किया गया।[57]

सम्मेलनपत्रिका
हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की मुखपत्रिका
सम्पादक
गिरिजाकुमार घोष
भाग १ } आश्विन, संवत् १९७० { अङ्क १
विषयसूची

	पृष्ठ
१—सम्पादकीय विनय	१
२—सभा समितियों पर प्राचीन ऋषियों की उक्ति	३
३—हिन्दी साहित्य में चित्रकला सिखाने की पुस्तकें	६
४—प्रयाग का विज्ञान-परिषद और उसकी कार्य्य-प्रणाली... ...	९
५—विविध— नागरी लिपि में परिवर्तन की आवश्यकता—प्रारम्भिक शिक्षा—अँगरेज़ी में भिन्न भिन्न विषयों के पत्र—हिन्दी के मासिक साहित्य में संयुक्त शक्ति की आवश्यकता—बंगाल में मुसलमानों का मातृभाषा बंगला से प्रेम	१२
६—पुस्तक-प्राप्ति स्वीकार	१६
७—सम्मेलन की रिपोर्ट	

1913 में सम्मेलन की पत्रिका का पहला अंक

मालवीय ने अपने भाषण में अदालतों और विधानसभाओं में भारतीय भाषाओं का इस्तेमाल करने पर ज़ोर देते हुए कहा कि 'जिस देश की जो भाषा है, उसी में वास्तव में उस देश के न्याय, क़ानून, राजकाज, कौंसिल इत्यादि का कार्य होना चाहिए ... न्याय उस भाषा में होना चाहिए, जिसका एक-एक शब्द उसकी समझ में आता हो, जिसका कि न्याय हो रहा है। इसके लिए हमें प्रयत्न करना चाहिए'। गाँधी ने भी सम्मेलन के इंदौर अधिवेशन में दिये गये अपने अध्यक्षीय भाषण में अदालतों में भारतीय भाषाओं के इस्तेमाल की वकालत करते हुए कहा कि 'हमारी अदालतों में ज़रूर राष्ट्रीय भाषा और प्रांतीय भाषा का प्रचार होना चाहिए। न्यायाधीशों के मार्फ़त जो तालीम हमको सहज ही मिल सकती है उस तालीम से आज प्रजा वंचित रहती है'।

हिंदी-नागरी आंदोलन एवं हिंदी साहित्य सम्मेलन

बनारस में हुए हिंदी साहित्य सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए मदन मोहन मालवीय ने संस्कृत व हिंदी में माँ-बेटी का संबंध बताया और अन्य भारतीय भाषाओं को हिंदी की छोटी बहन बताते हुए, उनके साथ हिंदी की तुलना करते हुए कहा कि 'हिंदी सब बहनों में माँ की बड़ी और सुघर बेटी है'।[58] हिंदी के प्रचार-प्रसार की चर्चा करते हुए मालवीय ने यह भी कहा कि वे उर्दू के विरोधी नहीं हैं बल्कि वे चाहते हैं कि :

> उर्दू भाषा रहे; कोई बुद्धिमान पुरुष यह नहीं कह सकता कि उर्दू मिट जाए। यह अवश्य रहे और इसके मिटाने का विचार वैसा ही होगा, जैसा हिंदी भाषा के मिटाने का ... हमारे मुसलमान भाई जिनको इसका (उर्दू का) प्रेम है और जो देशभक्त हैं, जिन से हमारे देश की सब तरह की उन्नति है, वे उर्दू की उन्नति का यत्न करें और हिंदी जानने वाले हिंदी की उन्नति का।[59]

इसके बावजूद कि उत्तर भारत में हिंदू और मुसलमान दोनों ही उर्दू भाषा से अच्छी तरह परिचित थे, जिसका ज़िक्र स्वयं मालवीय अपने अध्यक्षीय भाषण में कर चुके थे, मदन मोहन मालवीय ने अपने ऊपर उद्धृत किये गये भाषण में उर्दू को सिर्फ़ मुसलमानों से जोड़कर देखा। दूसरे शब्दों में, वे भी भाषा और धार्मिक अस्मिता को जोड़कर देखने की उस प्रक्रिया का समर्थन कर रहे थे, जो उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भाषाई आंदोलन के ज़ोर पकड़ने के दौरान शुरू हुई थी।[60] यद्यपि, मालवीय ने अपने अध्यक्षीय भाषण में हिंदी में अनावश्यक रूप से संस्कृत शब्दों के इस्तेमाल का ठीक उसी तरह से विरोध किया, जैसे उन्होंने हिंदी में अरबी या फ़ारसी के अपरिचित शब्दों के इस्तेमाल

[57] देखें, गौरीशंकर हीराचंद ओझा (1918) : 68.
[58] लक्ष्मीशंकर व्यास (सं.) (1987) : 7.
[59] वही : 15-16.
[60] भाषा को धार्मिक अस्मिता से जोड़ने और इस आधार पर अपवर्जन तथा आत्मसात् करने की प्रक्रिया के ऐतिहासिक विश्लेषण हेतु देखें, किंग (1994).
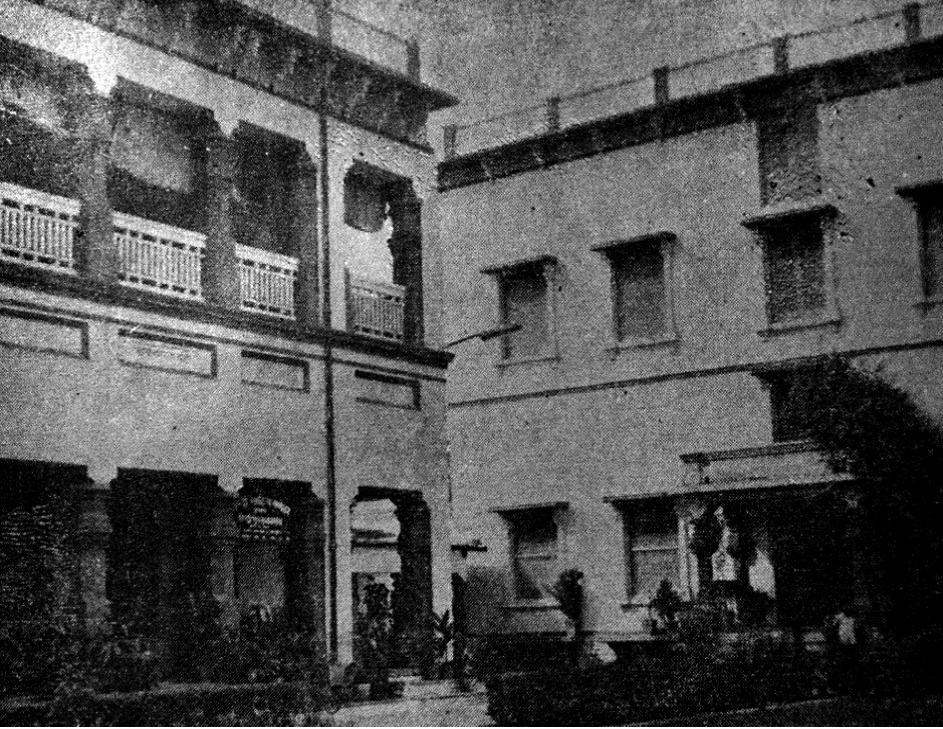
श्री सत्यनारायण कुटीर और हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग का कार्यालय भवन

का विरोध किया। वे रोज़मर्रा की भाषा में इस्तेमाल होने वाले अरबी–फ़ारसी शब्दों को प्रयोग में लाने के पक्षधर तो थे, पर जब बात विज्ञान और प्रौद्योगिकी से जुड़ी किताबों को हिंदी भाषा में लिखने की आयी, तो मालवीय ने लेखकों को सलाह देते हुए कहा कि उन्हें ये तकनीकी शब्द हिंदी और उसकी बोलियों से और ज़रूरत पड़ने पर संस्कृत के विशाल शब्द–भण्डार से ग्रहण करने चाहिए।

अब उच्च शिक्षा के इदारे में भी भाषा का प्रश्न उठने लगा था। *सम्मेलन पत्रिका* के सम्पादक ने मई, 1914 के अंक में लिखे अपने एक सम्पादकीय में शिकायत के लहज़े में लिखा कि आश्चर्य है कि जहाँ एक ओर कलकत्ता और पटना विश्वविद्यालय ने अपने विषयों की सूची में हिंदी को शामिल कर रखा है, वहीं संयुक्त प्रांत में इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने हिंदी को विषय के रूप में शामिल करने के मामले में अभी तक कोई क़दम नहीं उठाया है। सम्पादक द्वारा डॉ. सुंदर लाल और सर जेम्स मेस्टन से इस संदर्भ में ध्यान देने की सिफ़ारिश की गयी। इस लेख में सम्पादक ने उच्च शिक्षा और हिंदी के संदर्भ में सलाह देने के लिए नियुक्त समिति, जिसके अध्यक्ष सर जॉन हीवेट थे, के सुझावों को भी उद्धृत किया। जिसमें यह सुझाया गया था कि बी.ए. और बी.एससी. की परीक्षाओं में हिंदी को भी एक विषय के रूप में दर्जा दिया जाना चाहिए।[61]

जहाँ एक ओर हिंदी को कॉलेजों, विश्वविद्यालयों में जगह दिलाने की माँग उठ रही थी, वहीं दूसरी ओर सम्मेलन के मंच से ही 'हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान' का नारा भी लगाया जा रहा था। लाहौर में वर्ष 1922 में हुए सम्मेलन के बारहवें अधिवेशन के सभापति पण्डित जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी बनाए

[61] *सम्मेलन पत्रिका,* मई 1914, *नेटिव पेपर्स,* 1914 : 1015. साथ ही देखें, फ्रांचेस्का ऑर्सीनी (2002).

गये थे।[62] अपने अध्यक्षीय भाषण के अंत में प्रताप नारायण मिश्र की उक्ति 'हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान' को दुहराते हुए एक लम्बी कविता पढ़ी। हिंदी को माँ बताते हुए और हिंदी और हिंदुओं के संबंध पर ज़ोर देते हुए जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने कहा :

हम हिंदी के पुत्र हमारी हिंदी माता
हिंदू-हिंदी-हिंद नाम को निरखो नाता
हिंदू हिंदी त्यागी बनत जो उर्दू दासा
सो निज हाथन करत आप हैं अपनो नासा।[63]

भाषा को माँ के रूप में पहचान देकर जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी और हिंदी-नागरी आंदोलन के कर्णधारों ने हिंदीभाषी क्षेत्र में हिंदी के समर्थन में लोगों को जुटाने का एक प्रभावशाली तरीक़ा ढूँढ़ निकाला। इतिहासकार चारु गुप्ता ने लिखा है कि 'राष्ट्रवाद के रूपक में, स्त्री की देह और माँ से जुड़ी हुई विविध छवियों— मसलन, मातृभूमि, मातृभाषा और ख़ुद मातृत्व की धारणा ने भी— राष्ट्र की संकल्पना के लिए एक सार्वभौम व शक्तिशाली प्रतीक का काम किया'।[64] यह बात सिर्फ़ हिंदी ही नहीं तमिल जैसी भारतीय भाषाओं से जुड़े आंदोलनों पर भी लागू होती है। मसलन, तमिल के पक्ष में आंदोलन करने वाले द्रविड़ आंदोलन के समर्थकों ने तमिल को एक मातृदेवी (तमिलत्ते) के रूप में देखा। उनके लिए तमिल महज़ विचारों को अभिव्यक्त करने का माध्यम भर न रहकर, भक्ति और पूजा की वस्तु हो गयी। भाषा के प्रति इस भक्ति-भाव को 'तमिलप्पर्रू' की संज्ञा दी गयी। तमिल से जुड़े इस भक्ति-भाव और तमिल के भाषाई आंदोलन का अध्ययन करने वाली इतिहासकार सुमति रामास्वामी लिखती हैं कि 'भाषा के रूप में तमिल में निष्ठा, प्रेम व जुड़ाव उत्पन्न करने की वह क्षमता नहीं थीं, जिसे इसका वाहक बना दिया गया ... संवेदना की वे संरचनाएँ जो एक भाषा को उसके बोलने वाले से जोड़ देती है, सशक्तीकरण की राजनीति के लिए बेहद ज़रूरी हो जाती हैं'।[65]

1923 में दिल्ली में आयोजित हुए सम्मेलन के चौदहवें अधिवेशन में सभापति रहे हिंदी के प्रसिद्ध कवि और *प्रिय प्रवास* के रचयिता अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' भी अपने अध्यक्षीय भाषण में 'हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान' के नारे के आकर्षण से मुक्त न हो सके। उन्होंने कॉलेजों के हिंदू विद्यार्थियों को हिंदी पढ़ने का सुझाव तो दिया ही, साथ ही हिंदी व हिंदू के संबंध पर अपनी राय ज़ाहिर करते हुए कहा :

> हिंदी जीवन के लिए हिंदू जाति की सजीवता वांछनीय है। किंतु यही हिंदू जाति आज जर्जरित है, प्रतिदिन उच्छिन्न हो रही है, तिरस्कृत, लांछित, पद दलित और असम्मानित है, और उसका भविष्यत गगन तिमिराच्छन्न हो रहा है ... यह समझिए कि हिंदू जाति के अस्तित्व और उन्नति पर ही हिंदी की समस्त भलाइयाँ निर्भर हैं।[66]

इसी तरह वर्ष 1925 में हिंदी की पत्रिका *कर्तव्य* में प्रकाशित अपने एक लेख में लाला हरदयाल ने उर्दू अख़बारों के हिंदू मालिकों से अनुरोध किया कि वे उर्दू की बजाय हिंदी में अख़बार निकालें। लाला हरदयाल ने समाचार-पत्रों को हिंदी के प्रचार-प्रसार के सबसे अच्छे साधन के रूप में देखा, जो 'संगठन' के लिए भी ज़रूरी था। उनके अनुसार 'जैसे-जैसे हिंदू शक्तिशाली होते जाएँगे, वे हिंदी के

---

[62] अपनी हास्य-व्यंग्य की रचनाओं के लिए जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी को 'हास्यरसावतार' के रूप में भी जाना जाता था और वे बिहार हिंदी साहित्य सम्मेलन के पहले अधिवेशन के सभापति भी रहे थे. उनकी कुछ रचनाएँ हैं : *वसंत मालती, संसार चक्र, तूफ़ान, गद्यमाला, मधुर-मिलन* आदि. देखें, सहाय (1994) : 84-86.

[63] लक्ष्मीशंकर व्यास (सं.) (1987) : 273.

[64] चारु गुप्ता (2001) : 4291.

[65] सुमति रामास्वामी (1998) : 8.

[66] विद्यानिवास मिश्र (सं.) (2001) : 51.

लिए डाकघरों, अदालतों और सरकारी कार्यालयों में जगह सुरक्षित कर पाएँगे'। हरदयाल ने यहाँ तक लिखा कि 'किसी भी हिंदू को अपने बच्चों को उर्दू नहीं सिखानी चाहिए और सभी हिंदुओं को अपना काम हिंदी में ही करना चाहिए'।[67]

यहाँ तक कि हिंदी के प्रसिद्ध विद्वान और आलोचक श्याम बिहारी मिश्र[68] ने भी 1933 में ग्वालियर में आयोजित सम्मेलन के बाईसवें वार्षिक अधिवेशन में 'हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान' का राग अलापते हुए कहा :

> ... पुरानी लकीर के फ़कीर ही बने रहने से न देश एवं जाति का उपकार हो सकता है, और न हिंदी-माता ही का। अब तो 'रटो निरंतर एक ज़बान-हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान' की धूम मचाना ही परम धर्म है। इसी में भलाई है। इसी में स्वर्गीय सुख की प्राप्ति सम्भव है। इसी ध्वनि को देशव्यापी बना देने ही से कल्याण है।[69]

जनगणना, अदालतें और विधान परिषदों में भाषा का प्रश्न

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत में जनगणना की प्रक्रिया का आरम्भ हुआ। 1872 में शुरू हुई जनगणना की प्रक्रिया ने 1881 से दशकीय जनगणना का रूप ले लिया। जनगणना की इस औपनिवेशिक प्रक्रिया ने जहाँ ब्रिटिश राज को हिंदुस्तान के बारे में आँकड़े और जानकारियाँ जुटाने में मदद दी, वहीं दूसरी ओर भारतीय समाज भी इसके प्रभावों से अछूता न रहा। धर्म और जाति से जुड़ी अस्मिताओं को जड़ीभूत करने में जनगणना ने अहम भूमिका निभाई, इस पूरी प्रक्रिया का अध्ययन इतिहासकारों ने विस्तार से किया है।[70] पर भाषाई अस्मिता के निर्माण में और उसे एक निश्चित आकार देने में जनगणना की प्रक्रिया ने जो ऐतिहासिक भूमिका अदा की, उसकी ओर इतिहासकारों का ध्यान कम ही गया है।

जनगणना की रपटें और *लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इण्डिया* में दिये गये भाषा-संबंधी विवरण और धारणाएँ औपनिवेशिक भारत में और बाद के समय में भी भाषाई आंदोलन के समर्थकों द्वारा अपने-अपने पक्ष में लगातार उद्धृत किये जाते रहे। बीसवीं सदी के आरम्भ में जब 1911 के लिए दशकीय जनगणना की प्रक्रिया आरम्भ हुई, तब हिंदी और उर्दू के अख़बारों व पत्रिकाओं ने जनगणना से जुड़ी कार्यवाही पर अपनी आशंकाएँ ज़ाहिर कीं। इन अख़बारों के अनुसार, 'जनगणना की प्रक्रिया में लगे हुए कर्मचारी और उनके प्रभारी अधिकारी जनगणना रजिस्टर के भाषा वाले कॉलम में संयुक्त प्रांत के लोगों द्वारा बोली *जाने वाली वास्तविक भाषा* नहीं दर्ज कर रहे थे'।[71] *जादू, त.फ़रीह* और *सही.फ़ा* जैसी पत्रिकाओं का मत था कि भाषा वाले कॉलम में हिंदी या उर्दू की बजाय हिंदुस्तानी भाषा को दर्ज किया जाना चाहिए। इसी दौरान, इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाले *इंडियन रिव्यू* ने डॉ. निशिकांत चट्टोपाध्याय द्वारा लिखे लेखों को प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने हिंदुस्तानी का पक्ष लिया था और इसका कारण हिंदुस्तानी के 'मिले-जुले शब्द-भण्डार और उसके सहज व्याकरण' को बताया था।[72] ग़ौरतलब है कि उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में ही *अंग्रेज़ी-हिंदुस्तानी शब्दकोश* तैयार करने वाले जॉन गिलक्रिस्ट (1759-1842) हिंदी अथवा हिंदवी की बजाय हिंदुस्तानी को अपनाने का आग्रह कर रहे थे। जहाँ तक लिपि का सवाल था तो गिलक्रिस्ट हिंदुस्तानी को नागरी या फ़ारसी में लिखने

---

[67] *नेटिव पेपर्स,* नवम्बर 21, 1925 : 4.

[68] श्याम बिहारी मिश्र प्रसिद्ध 'मिश्र बंधुओं' में से एक थे, उनके दो अन्य भाई शुकदेव बिहारी और गणेश बिहारी मिश्र भी हिंदी के प्रसिद्ध आलोचकों में गिने जाते हैं. मिश्र बंधुओं ने *हिंदी नवरत्न और मिश्रबंधु विनोद* सरीखी आलोचना व साहित्येतिहास की अत्यंत महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की रचना की. मिश्र बंधुओं के लेखन के साहित्यिक मूल्यांकन व उनके योगदान की चर्चा के लिए देखें, सूर्यप्रसाद दीक्षित (2012).

[69] विद्यानिवास मिश्र (सं.) (2001) : 217.

[70] देखें, रश्मि पंत (1987); पद्मनाभ समरेन्द्र (2011).

[71] *अल-बशीर,* 19 जुलाई, 1910, *नेटिव पेपर्स* (1910) : 667.

[72] *नेटिव पेपर्स* (1910) : 625.

की बजाय रोमन लिपि में लिखने के पक्षधर थे। पर वे ऐसा करने में सफल न हो सके।

1911 की जनगणना के अनुसार संयुक्त प्रांत में दस हजार लोगों में 660 लोग ही साक्षर थे यानी साक्षरता की दर मात्र 6.6 फ़ीसदी थी। दस हजार में क्रमशः सिर्फ़ 611 पुरुष और केवल 49 महिलाएँ ही साक्षर थीं। 1901 में संयुक्त प्रांत में साक्षरता की यह दर और भी कम थी, तब दस हजार में औसत 578 पुरुष और 24 महिलाएँ ही साक्षर थीं।[73] भाषा के संदर्भ में, संयुक्त प्रांत की जनगणना की रिपोर्ट में *लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इण्डिया* में जॉर्ज ग्रियर्सन द्वारा किये गये भाषावार क्षेत्र के विभाजन को स्वीकार कर लिया गया था। ग्रियर्सन ने क्षेत्र के आधार पर हिंदी को चार श्रेणियों में रखा था : पश्चिमी हिंदी, पूर्वी हिंदी, बिहारी और केंद्रीय पहाड़ी। इनके क्षेत्र इस प्रकार थे : पश्चिमी हिंदी, जिसमें 'हिंदुस्तानी' और अन्य बोलियाँ भी शामिल थीं (सहारनपुर, मुजफ़्फ़रनगर, मेरठ, बिजनौर, मुरादाबाद, रामपुर, देहरादून तहसील, रुहेलखण्ड डिवीजन, आगरा, हरदोई, कानपुर, जालौन, हमीरपुर, झाँसी, नैनीताल तराई आदि); पूर्वी हिंदी (अवध का पूरा क्षेत्र सिर्फ़ हरदोई तहसील और फ़ैज़ाबाद में टांडा को छोड़कर, इलाहाबाद डिवीजन, केराकत तहसील को छोड़कर पूरा जौनपुर, चकिया तहसील को छोड़कर पूरा मिर्ज़ापुर); बिहारी (बनारस और गोरखपुर डिवीजन); केंद्रीय पहाड़ी (अल्मोड़ा, गढ़वाल, नैनीताल तहसील, और देहरादून)।[74]

जनगणना की रिपोर्ट ने संयुक्त प्रांत से प्रकाशित होने वाले समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं की सूची भी दी, जिनमें दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक पत्र-पत्रिकाएँ शामिल थीं। 1911 में संयुक्त प्रांत में प्रकाशित होने वालों पत्रों की संख्या भाषावार कुछ इस प्रकार थी : अंग्रेज़ी (34), उर्दू (69), हिंदी (34), हिंदी-उर्दू (2) और बांग्ला, एंग्लो-उर्दू, अरबी-उर्दू (प्रत्येक में एक)।[75] ध्यान देने योग्य है कि इस समय भी उर्दू पत्रों की संख्या हिंदी और अंग्रेज़ी के पत्रों की संख्या से दोगुनी थी। उर्दू के कई पत्रों का सम्पादन भी हिंदू ही कर रहे थे और उनका स्वामित्व भी हिंदुओं के ही हाथ में था। लिहाज़ा अभी भी प्रकाशन व पत्र-पत्रिकाओं की दुनिया में भाषा का धार्मिक स्तर पर अलगाव एक हक़ीक़त नहीं बना था।

भरतपुर अधिवेशन के अध्यक्ष गौरीशंकर ओझा

गाँधी ने सम्मेलन के इंदौर अधिवेशन के अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था : 'हिंदी भाषा वह भाषा है जिसको उत्तर में हिंदू व मुसलमान बोलते हैं और जो नागरी अथवा फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है। यह हिंदी एकदम संस्कृतमयी नहीं है, न वह एकदम फ़ारसी शब्दों से लदी हुई है'। गाँधी ने हिंदी और उर्दू के बीच भेद को कृत्रिम बताया। राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी के प्रचार-प्रसार के काम पर भी उन्होंने ज़ोर दिया। साथ ही उन्होंने सम्मेलन का ध्यान अंग्रेज़ी के प्रभाव की ओर आकृष्ट करते हुए कहा कि 'पचास वर्षों से हम अंग्रेज़ी के मोह में फ़ँसे हैं, हमारी प्रज्ञा अज्ञान में डूब रही है'।

अदालतों और विधानसभा में इस्तेमाल होने वाली भाषा का प्रश्न भी सम्मेलन के मंच से उठा। 1919 में बम्बई में आयोजित सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए मदन मोहन मालवीय ने अपने भाषण में अदालतों और विधानसभाओं में भारतीय भाषाओं का इस्तेमाल करने पर ज़ोर देते हुए कहा कि 'जिस देश की जो भाषा है, उसी में वास्तव में उस देश के न्याय, क़ानून,

[73] *सेंसस ऑफ़ इण्डिया,* (1911) : 247.

[74] वही : 286.

[75] वही : 276.

राजकाज, कौंसिल इत्यादि का कार्य होना चाहिए ... न्याय उस भाषा में होना चाहिए, जिसका एक-एक शब्द उसकी समझ में आता हो, जिसका कि न्याय हो रहा है। इसके लिए हमें प्रयत्न करना चाहिए'।[76] गाँधी ने भी सम्मेलन के इंदौर अधिवेशन (1918) में दिये गये अपने अध्यक्षीय भाषण में अदालतों में भारतीय भाषाओं के इस्तेमाल की वकालत करते हुए कहा कि 'हमारी अदालतों में ज़रूर राष्ट्रीय भाषा और प्रांतीय भाषा का प्रचार होना चाहिए। न्यायाधीशों के माफ़र्त जो तालीम हमको सहज ही मिल सकती है उस तालीम से आज प्रजा वंचित रहती है'।[77]

इस भाषण के छह वर्ष बाद 1924 में संयुक्त प्रांत की प्रांतीय विधान परिषद में भाषा का मुद्दा उठा, जब परिषद के कुछ सदस्यों को अपने भाषण हिंदी में देने की अनुमति नहीं दी गयी। हिंदी के समाचार-पत्रों ने इसके लिए प्रांतीय सरकार की तीव्र आलोचना की और सदस्यों को हिंदी में बोलने की अनुमति न देने के लिए विधान परिषद के सभापति को भी आड़े हाथों लिया। इसे मातृभाषा का अपमान बताते हुए हिंदी के पत्र *कर्तव्य* ने लिखा कि परिषद के सदस्य सभापति के इस फ़ैसले को बिल्कुल भी न स्वीकारें और इस नीति का जमकर विरोध करें। इसी संदर्भ में, बनारस से प्रकाशित होने वाले हिंदी दैनिक *आज* ने लिखा कि 'ऐसा प्रतीत होता है कि हिंदुस्तान इन अधिकारियों के लिए ही है, न कि ये अधिकारी हिंदुस्तान के लिए। अन्यथा क्या यह सम्भव न था कि ये कुछ अंग्रेज़ अधिकारी हिंदुस्तानी सीख लेते, बजाय सारे हिंदुस्तान को अंग्रेज़ी सीखने के लिए मजबूर करने के'।[78]

'राष्ट्रभाषा' के रूप में हिंदी

वर्ष 1913 में भागलपुर में आयोजित हुए हिंदी साहित्य सम्मेलन के चौथे वार्षिक अधिवेशन के सभापति रहे महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानंद)।[79] महात्मा मुंशीराम ने राष्ट्रभाषा की ज़रूरत पर ज़ोर दिया और हिंदी को 'आर्यभाषा' बताते हुए उसे ही राष्ट्रभाषा बनाने का आह्वान करते हुए कहा :

> बिना एक राष्ट्रभाषा के प्रचार के राष्ट्र का संगठित होना ऐसा ही दुस्तर है जैसा बिना जल के मीन का जीवन। जिस समाज के सभासदों के पास एक-दूसरे के हार्दिक भावों को समझने का कोई एक साधन नहीं, उसका संगठन दृढ़ कैसे हो सकता है? भारतवर्ष के राजनैतिक नेताओं ने भी यह तो मान लिया है कि एक राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र का निर्माण नहीं हो सकता; परंतु इस विषय में अभी तक मतभेद है कि कौन-सी भाषा राष्ट्रभाषा बन सकती है। मेरी सम्मति यह है कि *आर्यभाषा ही राष्ट्रभाषा बन सकती है*।[80]

'आर्यभाषा' के बारे में बताते हुए महात्मा मुंशीराम ने कहा कि इस भाषा की नींव तभी पड़ गयी थी, जब यह देश हिंदुस्तान नहीं वरन आर्यावर्त कहलाता था। हालाँकि, राष्ट्रभाषा के बारे में मुंशीराम ने इतना ज़रूर कहा कि 'इस भाषा को हम केवल हिंदुओं की भाषा नहीं बनाना चाहते, प्रत्युत सारे देश की राष्ट्रभाषा बनाना चाहते हैं; जिसमें जैन, बौद्ध, मुसलमान, ईसाई— सभी सम्मिलित हैं, इसीलिए मैं इसे आर्यभाषा कहकर पुकारता हूँ'। पर अपने इसी भाषण में मुंशीराम ने आगे चलकर 'आर्य सभ्यता' के जो लक्षण बताए, उससे यह साफ़ हो गया कि उनका तात्पर्य सिर्फ़ और सिर्फ़ हिंदुओं से ही है। उनके अनुसार, आर्य सभ्यता के विशेष तीन चिह्न थे : अहिंसा, मातृशक्ति का सत्कार और ब्राह्मण प्राधान्य।[81]

---

[76] लक्ष्मीशंकर व्यास (सं.) (1987) : 198.
[77] वही : 193.
[78] *नेटिव पेपर्स*, 22 मार्च, 1924 : 5.
[79] महात्मा मुंशीराम (1857-1926), जो स्वामी श्रद्धानंद के नाम से प्रसिद्ध हुए, के आर्य समाज और गुरुकुल काँगड़ी के विकास में योगदान के लिए पढ़ें, जे.टी.एफ़. जॉर्डेंस (1981).
[80] लक्ष्मीशंकर व्यास (सं.) (1987) : 122-23.
[81] वही : 125. औपनिवेशिक भारत में हिंदू राष्ट्रवाद, भाषा और राजनीति के परस्पर जटिल संबंधों की विस्तृत समीक्षा के लिए देखें, विलियम गोल्ड (2005).

अगले वर्ष 1914 में सम्मेलन का पाँचवाँ अधिवेशन लखनऊ में आयोजित हुआ और हिंदी के प्रसिद्ध कवि श्रीधर पाठक इसके सभापति चुने गये।[82] अपने भाषण के आरम्भ में ही उन्होंने कहा कि जो लोग हिंदी के लिए 'आर्यभाषा', 'नागरीभाषा', भारतभाषा सरीखे शब्द प्रयोग करना चाहते हैं, वे बेशक ऐसा करें। पर श्रीधर पाठक ने अनुरोध किया कि ऐसा करते हुए वे भाषा के लिए 'हिंदी' शब्द का बहिष्कार न करें क्योंकि ऐसा करना वे युक्तिसंगत नहीं मानते। भाषा व साहित्य को राष्ट्र से जोड़ते हुए, श्रीधर पाठक ने अपने विचार रखते हुए कहा :

> हमारा साहित्य हमारी जातीय सम्पत्ति है, हमारी जातीय प्रतिमूर्त्ति वा जातीय स्थिति का दर्पण है। साहित्य और जातीयत्व का सर्वत्र सचमुच ऐसा ही अन्योन्याश्रय शाश्वत संबंध है, यह कभी न भूलना चाहिए। प्रत्येक देश के सामयिक साहित्य की स्थिति से उसकी उस समय की जातीय स्थिति अनमेय होती है। साहित्य की उन्नति-अवनति और देश का उत्थान-पतन एक ही बात है।[83]

सभी भारतवासियों में जातीयता का भाव उत्पन्न करने के लिए और देश में भिन्न-भिन्न जातियों अलग-अलग धर्म व सम्प्रदाय के अनुयायियों को देशभक्ति के सूत्र में गूँथने के लिए 'भारतवर्ष मात्र का एक साहित्य होना' ज़रूरी बताया।[84] जिस प्रकार सोने की शुद्धता के लिए हॉल-मार्क का चिह्न लगा होता है, ठीक उसी तरह श्रीधर पाठक का तर्क था कि 'साहित्य संबंधी वही कृतियाँ ग्राह्य मानी जाएँ जिन पर किसी *कृतविद्य विद्वत्समूह का 'हॉल-मार्क'* हो (ज़ोर मेरा)'। साहित्यिक कृतियों के लिए ऐसी कसौटी तय करने के लिए उन्होंने हिंदी साहित्य सम्मेलन जैसी साहित्यिक-संस्थाओं और हिंदी की पत्रिकाओं द्वारा साहित्यिक कृतियों की समालोचना का कार्य करने के लिए कहा।

अगले ही वर्ष, 1915 में इलाहाबाद में आयोजित हुए हिंदी साहित्य सम्मेलन के छठे वार्षिक अधिवेशन में बाबू श्यामसुंदर दास सभापति बने। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के संस्थापक-सदस्य होने के अलावा श्यामसुंदर दास प्रसिद्ध आलोचक भी थे।[85] जहाँ श्रीधर पाठक ने साहित्य को 'जातीय स्थिति का दर्पण' बताया था, वहीं श्यामसुंदर दास ने साहित्य को 'सामाजिक मस्तिष्क द्वारा समाज को सौंपी हुई सामग्री का संचित भण्डार' बताते हुए कहा :

> किसी जाति के साहित्य को हम उस जाति की सामाजिक शक्ति या सभ्यता का निर्देशक कह सकते हैं। वह उसका प्रतिरूप प्रतिछाया या प्रतिबिम्ब कहला सकता है। जैसी उसकी सामाजिक अवस्था होगी वैसा ही उसका साहित्य होगा। किसी जाति के साहित्य को देखकर हम यह स्पष्ट
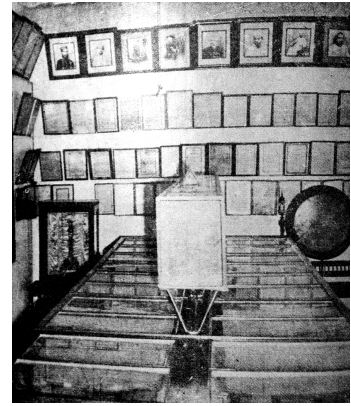
सम्मेलन का संग्रहालय

गणेश शंकर विद्यार्थी ने एक भाषा पर दूसरी भाषा के वर्चस्व की स्थिति को चिंताजनक बताते हुए कहा कि 'किंतु जब यह दान-प्रतिदान प्रभुता और पराधीनता की भावना से होता है, एक भाषा को दूसरी भाषा के शब्दों और वाक्यों को इसलिए लेना पड़ता है कि दूसरी भाषा के लोग बलवान हैं, उनकी प्रभुता है, उनको प्रसन्न करना है, उनके सामने झुकना है, तो इससे लेने वालों की उन्नति नहीं होती ... परभाषा की सत्ता स्वीकार कर के हम अपनी परवशता और हीनता को पुष्ट करते हैं'।

[82] सम्मेलन के दूसरे अधिवेशन के सभापति बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की तरह ही श्रीधर पाठक ने ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों में ही कविताएँ लिखीं. श्रीधर पाठक ने गोल्डस्मिथ की कविताओं का हिंदी में अनुवाद किया. उदाहरण के लिए, 'एकांतवासी' (गोल्डस्मिथ की रचना 'हरमिट' का अनुवाद) और 'श्रांतपथिक' ('ट्रैवेलर' का अनुवाद). उन्होंने हिंदी का शब्दकोश भी तैयार किया, जिसे 'श्रीधर भाषा कोश' के नाम से जाना जाता है.

[83] लक्ष्मीशंकर व्यास (सं.) (1987) : 135.

[84] वही : 140. साथ ही, जातीय भाषा के रूप में हिंदी के प्रसार पर विस्तृत चर्चा के लिए देखें, रामविलास शर्मा (1965) : 84-90.

[85] बाबू श्यामसुंदर दास *कबीर ग्रंथावली* के सम्पादक थे और उन्होंने हिंदी में आलोचना पर *साहित्यालोचन* सरीखी कृति भी लिखी थी.

> बता सकते हैं कि उसकी सामाजिक अवस्था कैसी है। वह सभ्यता की सीढ़ी के किस डण्डे तक चढ़ सकी है।[86]

इस तरह श्यामसुंदर दास ने साहित्य को न सिर्फ़ जाति अथवा समाज के प्रतिरूप के रूप में देखा बल्कि साहित्य को किसी जाति की सामाजिक अवस्था का परिचायक भी बताया। राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर अपनी राय रखते हुए श्यामसुंदर दास ने कहा कि सभी भारतीय भाषाओं में हिंदी ही मातृभूमि की सेवा के लिए सर्वथा उपयुक्त है। कारण कि हिंदी का विस्तार किसी प्रांत या स्थान की सीमा के भीतर बँधा हुआ नहीं है। उल्लेखनीय है कि राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय साहित्य का यह मुद्दा उन्नीसवीं सदी के आख़िरी दशकों में भी उठता रहा था। 1882 में हंटर आयोग को दिये गये ज्ञापनों में शिक्षा के प्रश्न को राष्ट्रभाषा व राष्ट्रीय साहित्य से जोड़कर देखने का भी उल्लेख मिलता है। इलाहाबादवासियों द्वारा हंटर आयोग को दिये गये एक ऐसे ही ज्ञापन में कहा गया :

> राष्ट्रीय शिक्षा का उद्देश्य राष्ट्र को उच्चतर विचारों और आदर्शों की ओर ले जाना और उसके सामाजिक-नैतिक-राजनीतिक अस्तित्व को ऊपर उठाना भी है। यह कार्य मुख्य रूप से राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय साहित्य के ज़रिये ही सम्भव हो सकता है।[87]

गाँधी ने भी राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी (आगे चलकर 'हिंदुस्तानी') का समर्थन किया।[88] 1918 में उनके प्रयासों से ही दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा की स्थापना हुई। हिंदी के जिस स्वरूप को वे राष्ट्रभाषा के रूप में देखना चाहते थे, उसे पारिभाषित करते हुए गाँधी ने सम्मेलन के इंदौर अधिवेशन के अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था : 'हिंदी भाषा वह भाषा है जिसको उत्तर में हिंदू व मुसलमान बोलते हैं और जो नागरी अथवा फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है। यह हिंदी एकदम संस्कृतमयी नहीं है, न वह एकदम फ़ारसी शब्दों से लदी हुई है'। गाँधी ने हिंदी और उर्दू के बीच भेद को कृत्रिम बताया। राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी के प्रचार-प्रसार के काम पर भी उन्होंने ज़ोर दिया। साथ ही उन्होंने सम्मेलन का ध्यान अंग्रेज़ी के प्रभाव की ओर आकृष्ट करते हुए कहा कि 'पचास वर्षों से हम अंग्रेज़ी के मोह में फ़ँसे हैं, हमारी प्रज्ञा अज्ञान में डूब रही है'। गाँधी और कांग्रेस नेतृत्व द्वारा हिंदी/हिंदुस्तानी के राष्ट्रभाषा बनने की सम्भावना ज़रूर तलाशी गयी और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के द्वारा भाषाई प्रांतों का गठन भी किया गया। पर ये प्रयास एक सीमा से आगे नहीं जा सके, जैसा कि अभय कुमार दुबे लिखते हैं : 'कांग्रेसियों का जनता से सम्पर्क या तो हिंदुस्तानी में होता था या अन्य भारतीय भाषाओं में, पर राष्ट्रीय आंदोलन की भीतरी राजनीति पर अंग्रेज़ी निर्विवाद रूप से हावी रही'।[89]

हिंदी सहित तमाम भारतीय भाषाओं पर अंग्रेज़ी के दबाव का उल्लेख करते हुए मदन मोहन मालवीय ने 1919 में दिये गये अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि अंग्रेज़ी राज में देशी भाषाओं की उन्नति न हो सकी। इस दौरान अंग्रेज़ी भाषा की उन्नति तो अवश्य हुई, पर देशी भाषा उससे दब गयी। कुछ ऐसा ही विचार मराठी लेखक विष्णु चिपलूणकर (1850-1882) ने 1881 में अपनी प्रसिद्ध पत्रिका *निबंधमाला* में लिखे एक लेख 'आमच्या देशाची स्थिति' ('हमारे देश की स्थिति') में ज़ाहिर किये थे। चिपलूणकर ने लिखा था कि 'अंग्रेज़ी कविता से कुचल कर हमारी भारतीय मेधा नष्ट हो गयी है ... अंग्रेजों के क़ानूनों ने हमें कहीं का नहीं छोड़ा है'।[90]

हालाँकि मालवीय ने अपने भाषण में आगे यह भी कहा कि उन्हें अंग्रेज़ी भाषा मात्र से कोई शिकायत नहीं है। उन्होंने कहा कि अंग्रेज़ी के 'जो गुण हैं, उनको मानना ही चाहिए। वर्तमान समय में

---

[86] लक्ष्मीशंकर व्यास (सं.) (1987) : 155.

[87] वसुधा डालमिया : 222 में उद्धृत.

[88] 'हिंदुस्तानी' भाषा के संदर्भ में ऐतिहासिक विवरण के लिए देखें, डेविड लेलीवेल्ड (1994).

[89] अभय कुमार दुबे (2015) : 18.

[90] सुधीर चंद्र (1992) : 18.

जो जातीयता का आविर्भाव हुआ है, जो प्रांतीय मेल वर्तमान समय में देखा जाता है, उसका बहुत कुछ श्रेय अंग्रेज़ी को देना पड़ेगा'। पर उनका ज़ोर इस बात पर था कि भारतीयों को अपनी भाषा का महत्त्व नहीं भूलना चाहिए क्योंकि साहित्य और देश की उन्नति अपने देश की भाषा में ही सम्भव है। राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी का समर्थन करते हुए और हिंदी व अन्य भारतीय भाषाओं के संबंध पर टिप्पणी करते हुए मालवीय ने कहा कि वे यह नहीं कह रहे कि 'देशभर में एक यही (हिंदी) भाषा रहे, अन्य प्रांतीय भाषाएँ न रहें। नहीं, सब प्रांतों में अपने-अपने प्रांतों की भाषा की उन्नति हो— सभी भाषाएँ शोभा के साथ प्रौढ़, दृढ़काय बनें'। और इन प्रांतीय भाषाओं के साथ हिंदी राष्ट्रभाषा के रूप में विकसित हो।

सम्मेलन का मुद्रणालय (प्रेस)

धर्म, व्यापार-संबंध और राजनीति के लिए राष्ट्रीय भाषा के प्रचार के आवश्यक बताते हुए मदन मोहन मालवीय ने कहा :

> हिंदी भाषा का भी इस्तेमाल सारे देश में बहुत प्राचीन काल से होता आया है। वह कौन-सी भाषा है जो वृंदावन, बदरीनारायण, द्वारका, जगन्नाथपुरी इत्यादि चारों धामों तक, एक समान धार्मिक यात्रियों को सहायता देती है। वह एक हिंदी भाषा है। यह 'लिंगुआ फ्रैंका'— लिंगुआ फ्रैंका क्यों— 'लिंगुआ इंडिका' है।[91]

पण्डित विष्णुदत्त शुक्ल पटना में 1920 में आयोजित हुए हिंदी साहित्य सम्मेलन के दसवें वार्षिक अधिवेशन में सभापति बने। मराठी साहित्य सम्मेलन और गुजराती साहित्य सम्मेलन द्वारा पारित प्रस्तावों का, जिनमें राष्ट्रभाषा के रूप हिंदी के समर्थन की बात कही गयी थी, उल्लेख करते हुए विष्णुदत्त शुक्ल ने कहा कि हिंदी अब राष्ट्रभाषा बनने की ओर अग्रसर है। देहरादून में हुए सम्मेलन के पंद्रहवें अधिवेशन में राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी पर अपने विचार रखते हुए प्रसिद्ध साहित्यकार और *हिंदी केसरी* और *छत्तीसगढ़ मित्र* जैसे पत्रों के सम्पादक माधव राव सप्रे (1871-1926) ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि :

> मैंने इस बात का अनुभव किया कि इस विशाल देश में एक ऐसी भाषा की आवश्यकता है, जिसे सब प्रांतों के लोग अपनी राष्ट्रभाषा मानें, और वह भाषा हिंदी को छोड़कर अन्य कोई नहीं है। मैं महाराष्ट्री हूँ, परंतु हिंदी के विषय में मुझे उतना ही अभिमान है, जितना किसी हिंदी भाषी को हो सकता है, मैं चाहता हूँ कि इस राष्ट्रभाषा के सामने भारतवर्ष का प्रत्येक व्यक्ति इस बात को भूल जाए कि मैं महाराष्ट्री हूँ, मैं बंगाली हूँ, मैं गुजराती हूँ, या मैं मदरासी हूँ ... मैं राष्ट्रभाषा को अपने जीवन में ही सर्वोच्च आसन पर देखने का अभिलाषी हूँ।[92]

---

[91] लक्ष्मीशंकर व्यास (सं.) (1987) : 200.

[92] विद्यानिवास मिश्र (सं.) (2001) : 54.

कुछ ऐसे ही विचार सम्मेलन के वृंदावन में हुए सोलहवें अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए अमृतलाल चक्रवर्ती ने भी रखे। राष्ट्रभाषा की ज़रूरत पर ज़ोर देते हुए उन्होंने कहा कि 'एक राष्ट्रभाषा के बिना सर्व भारत का परम कल्याण त्रिकाल में भी नहीं हो सकता, जिसका विरल गौरव एक हिंदी को छोड़ कर भारत की और किसी प्रांतीय भाषा को नहीं मिल सकता'। कानपुर से छपने वाले राष्ट्रवादी पत्र *प्रताप* के सम्पादक और राष्ट्रवादी नेता गणेश शंकर विद्यार्थी 1930 में गोरखपुर में आयोजित हुए सम्मेलन के सभापति नियुक्त हुए।[93] मानव-समाज के लिए भाषाओं की अहमियत पर ज़ोर देते हुए गणेश शंकर विद्यार्थी ने कहा कि भाषाएँ जातीय जीवन और संस्कृति को न सिर्फ़ समृद्ध बनाती हैं, बल्कि वह 'जातीय जीवन और संस्कृति की सर्वप्रधान रक्षिका है, वह उसके शील का दर्पण है, वह उसके विकास का वैभव है'। भाषाओं के बीच आदान-प्रदान और सम्पर्क को स्वाभाविक और ज़रूरी मानते हुए भी गणेश शंकर विद्यार्थी ने एक भाषा पर दूसरी भाषा के वर्चस्व की स्थिति को चिंताजनक बताते हुए कहा कि 'किंतु जब यह दान-प्रतिदान प्रभुता और पराधीनता की भावना से होता है, एक भाषा को दूसरी भाषा के शब्दों और वाक्यों को इसलिए लेना पड़ता है कि दूसरी भाषा के लोग बलवान हैं, उनकी प्रभुता है, उनको प्रसन्न करना है, उनके सामने झुकना है, तो इससे लेने वालों की उन्नति नहीं होती ... परभाषा की सत्ता स्वीकार कर के हम अपनी परवशता और हीनता को पुष्ट करते हैं'।[94] हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के प्रयास में हिंदीभाषियों के अलावा विद्यार्थी जी ने दयानंद सरस्वती व आर्य समाज, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, मराठी व गुजराती की साहित्य परिषदों और अन्य ग़ैर हिंदी भाषियों के योगदान को भी रेखांकित किया।

दिल्ली में 1934 में आयोजित हुए हिंदी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए बड़ौदा के महाराजा सैयाजीराव गायकवाड़ ने राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर अपने विचार रखे। सैयाजीराव ने भाषा संबंधी अड़चनों को हिंदुस्तान की जातीय कमज़ोरी की प्रमुख वजह बताया। हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकारते हुए उन्होंने कहा कि 'साधारण जनता हिंदी को बड़ी सरलता से ग्रहण कर सकेगी और अंतरप्रांतीय व्यवहार में अधिक वाक्पटुता परिणाम में प्राप्त कर सकेगी'। अंग्रेज़ी सीखने की ज़रूरत से इंकार न करते हुए भी उन्होंने कहा कि सभी लोगों के लिए अंग्रेज़ी सीखना ज़रूरी नहीं। जापान का उदाहरण देते हुए उन्होंने समझाया कि पश्चिम के विचार, दर्शन को जानने हेतु और पश्चिमी देशों से व्यवहार करने हेतु जापानी लोगों की भाँति अंग्रेज़ी सीखना उचित है, पर इसको सर्वसाधारण के आम व्यवहार की भाषा बनाने की कल्पना करना ठीक नहीं। वहाँ हिंदी का ही व्यवहार होना चाहिए।[95]

सम्मेलन की परीक्षाएँ, सम्मेलन पत्रिका और भाषाई संगठनों से सम्पर्क

हिंदी साहित्य सम्मेलन ने 1910 में अपनी स्थापना के समय ही अपने उद्देश्यों में परीक्षाएँ आयोजित कराना शामिल किया था। अंततः कुछ वर्षों बाद सम्मेलन ने प्रथमा, मध्यमा, उत्तमा, आरायजनवीसी और मुनीमी की परीक्षाएँ आयोजित करनी शुरू की। आरम्भ में ये परीक्षाएँ युक्त प्रांत में आयोजित की गयीं और बाद में अन्य प्रांतों में भी आयोजित की जाने लगीं। मध्यमा और उत्तमा परीक्षाएँ उत्तीर्ण करने वाले परीक्षार्थियों को क्रमशः 'विशारद' और 'रत्न' की उपाधि दी जाती थी।[96] 1916 में प्रथमा, मध्यमा और उत्तमा परीक्षाओं के लिए परीक्षा शुल्क क्रमशः दो, पाँच और दस रुपये थे। हालाँकि महिला परीक्षार्थियों के लिए कोई परीक्षा शुल्क नहीं था। 1916 में सम्मेलन की परीक्षाएँ निम्न जगहों

---

[93] गणेश शंकर विद्यार्थी की रचनाओं के संकलन हेतु देखें, *गणेश शंकर विद्यार्थी रचनावली*, भाग 1-4.

[94] विद्यानिवास मिश्र (सं.) (2001) : 141.

[95] वही : 225-226.

[96] *सम्मेलन पत्रिका*, भाग 4, सं. 3, मार्गशीर्ष 1973 वि.स.

पर आयोजित की गयीं : अजमेर, अल्मोड़ा, अलवर, अलीगढ़, आगरा, आरा, इंदौर, एटा, कोलकाता, काशी, कोटा, खण्डवा, गोरखपुर, जबलपुर, जयपुर, झाँसी, दिल्ली, नरसिंहपुर, प्रयाग, फ़िरोज़ाबाद, फ़ैज़ाबाद, बड़ौदा, बाँकीपुर, बिलासपुर, बीकानेर, बुलंदशहर, भरतपुर, मुजफ़्फ़रपुर, मेरठ, राजनाँदगाँव, रायबरेली, लखनऊ, शाहजहाँपुर, हरदोई, बीकानेर।[97]

वर्ष 1928 में सम्मेलन द्वारा आयोजित परीक्षाओं में क़रीब तेईस सौ से अधिक परीक्षार्थी ने आवेदन किये। इनमें से सर्वाधिक आवेदन प्रथमा परीक्षा (1570) के लिए हुए थे, जबकि सबसे कम आवेदन आरायजनवीसी (14) के लिए हुए। यद्यपि कुल 2366 परीक्षार्थियों के आवेदन प्राप्त हुए थे, पर परीक्षा में केवल 1435 परीक्षार्थी ही बैठे और उनमें भी मात्र 629 परीक्षार्थी सफल घोषित किये गये। नीचे दी गयी सारणी सम्मेलन के परीक्षा मंत्री दयाशंकर दुबे द्वारा 1929 में लिखे एक लेख पर आधारित है।[98]

1928 में सम्मेलन की परीक्षाओं का विवरण

सम्मेलन की इन परीक्षाओं को आयोजित करने के लिए सम्मेलन ने एक परीक्षा समिति का भी गठन किया था, जिसका संचालन परीक्षा-मंत्री द्वारा किया जाता था। परीक्षा-मंत्री के अलावा सम्मेलन के सभापति, उपसभापति, प्रधानमंत्री, प्रबंध मंत्री और अर्थ मंत्री भी इस परीक्षा समिति के सदस्य होते थे। परीक्षा समिति में कुल सोलह सदस्य होते थे, जिनका चुनाव प्रतिवर्ष सम्मेलन की स्थायी समिति द्वारा किया जाता था। *सम्मेलन पत्रिका* में 1928 में लिखे एक लेख में दयाशंकर दुबे ने लिखा कि सम्मेलन की परीक्षा समिति के सदस्यों का कम होना और उनमें भी विषय-विशेषज्ञों का अभाव सम्मेलन द्वारा एक मानक पाठ्यक्रम तैयार न कर पाने और सम्मेलन की परीक्षाओं में उत्पन्न होने वाली समस्याओं के लिए प्रमुख रूप से ज़िम्मेदार था।[99]

1916 तक सम्मेलन ने युक्त प्रांत, बिहार, राजपूताना, मध्य भारत, पंजाब और बंगाल के उन तमाम संगठनों को ख़ुद से सम्बद्ध किया, जो हिंदी-नागरी के प्रचार-प्रसार में लगे हुए थे।[100] अलग-अलग क्षेत्रों में इन संगठनों की मौजूदगी से हिंदी-नागरी आंदोलन के प्रसार का अंदाज़ा भी मिलता है। ये संगठन प्रांतवार इस प्रकार थे :

युक्त प्रांत : नागरी प्रचारिणी सभा (काशी, बुलंदशहर, आगरा, गोरखपुर, लखीमपुर खीरी, हाथरस, रायबरेली), नागरी प्रवर्धिनी सभा (प्रयाग), हिंदी प्रचारिणी सभा (मुरादाबाद), हिंदी साहित्य सभा (लखनऊ), हिंदी हितैषिणी सभा (बस्ती), हिंदी प्रवर्धिनी सभा (शाहजहाँपुर), हिंदी सम्मेलन सभा (बांदा), प्रांतीय कांफ्रेंस सभा (गोरखपुर)

बिहार : हिंदी सभा (भागलपुर), छात्रोपकारिणी सभा (दरभंगा), हिंदी भाषा प्रचारिणी सभा (दरभंगा), हिंदी हितैषिणी सभा (मुजफ़्फ़रपुर)

राजपूताना : नागरी प्रचारिणी सभा, विद्या प्रचारिणी सभा (मेवाड़), हिंदी साहित्य सम्मेलन (कोटा)

मध्य भारत : मध्य भारत हिंदी साहित्य समिति (इंदौर)

पंजाब : नागरी प्रचारिणी सभा (अमृतसर), देवनागरी प्रचारिणी सभा (लाहौर)

बंगाल : हिंदी साहित्य परिषद, नागरी प्रचारिणी सभा (कोलकाता)।

1913 से हिंदी साहित्य सम्मेलन ने अपने मुखपत्र *सम्मेलन पत्रिका* का प्रकाशन शुरू किया। गिरिजा कुमार घोष *सम्मेलन पत्रिका* के पहले सम्पादक थे। उनके बाद पण्डित इंद्रनारायण द्विवेदी

---

[97] वही.

[98] दयाशंकर दुबे, 'सम्मेलन की परीक्षाएँ', *विशाल भारत,* जनवरी 1929, वर्ष 2, भाग 1, सं. 1.

[99] दयाशंकर दुबे, 'हिंदी विश्वविद्यालय', *सम्मेलन पत्रिका,* भाग 1, सं. 1, माघ 1985 वि.स.

[100] *सम्मेलन पत्रिका,* भाग 3, सं. 11, श्रावण 1973 वि.स.

सम्मेलन पत्रिका के सम्पादक बने। इस पत्रिका में सम्मेलन की तमाम गतिविधियों मसलन, स्थायी समिति की बैठकों, सम्मेलन की परीक्षाओं, वार्षिक अधिवेशनों के विवरण तो छपते ही थे, साथ ही इसमें हिंदी भाषा और साहित्य से संबंधित लेख भी नियमित तौर पर प्रकाशित होते थे। 1916–17 के दौरान *सम्मेलन पत्रिका* का वार्षिक शुल्क एक रुपये था। इस पत्रिका के अलावा वर्ष 1915 से सम्मेलन ने पुस्तकों का प्रकाशन भी आरम्भ किया। 1915 में *सम्मेलन पत्रिका* में छपे एक नोटिस में सम्मेलन द्वारा प्रकाशित निम्न किताबों को विक्रय हेतु उपलब्ध बताया गया था : सम्मेलन के पाँच वार्षिक अधिवेशनों के विवरण और लेखमाला, लाजपत राय की *जीवनी,* विष्णु शास्त्री चिपलूणकर के निबंधों का हिंदी अनुवाद *इतिहास* शीर्षक से, नागरी अंक और अक्षर, दर्शन पर एक पुस्तक *नीतिदर्शन,* और कविता और साहित्य पर आधारित पुस्तकें (मसलन *हिंदी का संदेश, गद्यकाव्यमीमांसा, उजाड़ग्राम, पिंगल का फ़लक, सौ अजान और एक सुजान*)।[101]

ख़ुद हिंदी लोक वृत्त में बीसवीं सदी के इन आरम्भिक दशकों में बड़ी तेज़ी से बदलाव आ रहे थे। *सरस्वती, विशाल भारत, चाँद, माधुरी* और *सुधा* जैसी तमाम पत्रिकाओं ने हिंदी लोक वृत्त में साहित्य और भाषा ही नहीं ज्ञान के तमाम क्षेत्रों से जुड़े विमर्श को बढ़ावा देने में अपना योगदान दिया।[102] महावीर प्रसाद द्विवेदी, बनारसीदास चतुर्वेदी, दुलारेलाल भार्गव जैसे सम्पादकों ने न सिर्फ़ हिंदी में सम्पादन कला के क्षेत्र में अप्रतिम योगदान दिया, बल्कि हिंदी की भाषा–शैली, विषयों के प्रस्तुतीकरण, पत्रिकाओं के कलेवर को भी संवर्धित–परिवर्धित करने में उल्लेखनीय भूमिका निभायी।[103] यह समय साहित्यिक दुनिया ही नहीं हिंदी लोक वृत्त में उस समय चल रही तमाम बहसों में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी का भी समय था, जिसकी बानगी तत्कालीन पत्र–पत्रिकाओं के पन्ने पलटते हुए हमें देखने को मिलती है।[104]

निष्कर्ष

इस लेख में मैंने हिंदी साहित्य सम्मेलन की स्थापना के बाद के प्रायः पच्चीस वर्षों की अवधि में सम्मेलन की विभिन्न गतिविधियों, भाषाई राजनीति में सम्मेलन की सक्रिय भूमिका और सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशनों में सभापतियों द्वारा उठाए गये मुद्दों का जायज़ा लेने की कोशिश की है। राष्ट्रभाषा का सवाल हो या लिपि का प्रश्न हो या अदालतों, स्कूलों में इस्तेमाल होने वाली भाषा का मुद्दा हो, सम्मेलन के सभापतियों के भाषणों में अभिव्यक्त विचारों के आलोक में इन प्रश्नों पर विचार करने की कोशिश इस लेख में की गयी है। सम्मेलन के सभापतियों ने अपने भाषणों में न सिर्फ़ हिंदी की उत्पत्ति पर, हिंदी के अतीत पर अपने विचार रखे, बल्कि जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' और श्याम बिहारी मिश्र जैसे सभापतियों ने प्रताप नारायण मिश्र की भाँति ही 'हिंदी, हिंदू और हिंदुस्तान' को भी जोड़ कर देखा। साथ ही, इन मुद्दों पर हिंदी के अलावा उर्दू भाषा की भी तत्कालीन पत्र–पत्रिकाओं में क्या प्रतिक्रियाएँ हुईं, इन प्रश्नों को लेकर उनका क्या रवैया था इसे जानने की भी कोशिश हमने की।

हिंदी भाषा के संदर्भ में देखें तो, यह वही समय था जब भाषा को माँ का दर्जा देने और भाषा को धार्मिक अस्मिता से जोड़ देने की ऐतिहासिक प्रक्रिया भी सम्पन्न हो रही थी। भाषा को माँ की छवि में देखने की बात जितनी हिंदी पर लागू होती है, उतनी ही तमिल सरीखी अन्य भारतीय भाषाओं पर भी। इन पच्चीस वर्षों में सम्मेलन ने अपनी साहित्यिक गतिविधियों का भी भरपूर विस्तार किया।

---

[101] *सम्मेलन पत्रिका,* भाग 3, सं. 1, आश्विन 1972 वि.स.

[102] देखें, फ्रांचेस्का ओर्सीनी (2002); सुजाता एस. मोदी (2018).

[103] महावीर प्रसाद द्विवेदी के योगदान के विस्तृत विवरण हेतु देखें, रामविलास शर्मा (1977); दुलारेलाल भार्गव के कृतित्व और उनके द्वारा संपादित पत्रिकाओं *माधुरी* और *सुधा* पर चर्चा के लिए देखें, शोभना निझावन (शीघ्र प्रकाश्य).

[104] देखें, चारु गुप्ता (2002); शोभना निझावन (2012).

सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन अब देश के अलग-अलग हिस्सों में आयोजित हो रहे थे, सम्मेलन पुस्तकों के प्रकाशन में भी काफ़ी सक्रिय था और अपने मुखपत्र सम्मेलन पत्रिका के ज़रिये हिंदी भाषा और साहित्य से संबंधित विमर्श में भी अपनी सहभागिता दर्ज करा रहा था। सम्मेलन ने प्रथमा, मध्यमा और उत्तमा सरीखी परीक्षाएँ भी आयोजित करना आरम्भ किया और इसके साथ-साथ सम्मेलन ने देश भर में हिंदी-नागरी आंदोलन से जुड़े भाषाई संगठनों को एकसूत्र में बाँधने की भी कोशिश की।

संदर्भ

अभय कुमार दुबे (2015), *हिंदी में हम: आधुनिकता के कारख़ाने में भाषा और विचार,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

आलोक राय (2001), *हिंदी नैशनलिज़म,* ओरियंट लॉन्गमेन, नयी दिल्ली.

केनेथ डबल्यू. जोंस (1989), *सोशियो-रिलीजस रिफ़ॉर्म मूवमेंट्स इन ब्रिटिश इण्डिया,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

क्रिस्टोफर किंग (1994), *वन लैंग्वेज़ टू स्क्रिप्ट्स : द हिंदी मूवमेंट इन द नाइंटींथ सेंचुरी नॉर्थ इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, बंबई.

क्रिस्टोफ़र शैकल व जावेद मजीद (1997), *हालीज़' मुसद्दस द फ़्लो ऐंड एब्ब ऑफ़ इस्लाम,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

गणेश शंकर विद्यार्थी रचनावली (2004), भाग 1-4, सुरेश सलिल (सं.), अनामिका प्रकाशन, नयी दिल्ली.

गौरीशंकर हीराचंद ओझा (1918 [2011]), *भारतीय प्राचीन लिपिमाला,* मुंशीराम मनोहरलाल, नयी दिल्ली.

चारु गुप्ता (2001), 'द आइकॉन ऑफ़ मदर इन लेट कॉलोनियल नॉर्थ इण्डिया', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* 36 (45).

---- (2002), *सेक्शुअलिटी, ओब्सेनिटी, कम्यूनिटी : विमन, मुस्लिम्स, ऐंड द हिंदू पब्लिक इन कॉलोनियल इण्डिया,* पालग्रेव, न्युयॉर्क.

जे.टी.एफ़. जॉर्डेन्स (1981), *स्वामी श्रद्धानंद हिज़ लाइफ ऐंड कॉजेज़,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

डेविड लेलीवेल्ड (1994) 'द फेट ऑफ़ हिंदुस्तानी : कॉलोनियल नॉलेज ऐंड द प्रोजेक्ट ऑफ़ अ नैशनल लैंग्वेज़', कैरोल ब्रेकेनरिज एवं पीटर वान वीर (सं.), *ओरियंटलिज़म ऐंड द पोस्टकॉलोनियल प्रेडिकॉमेंट : पर्सपेक्टिव्स ऑन साउथ एशिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

पद्म सिंह शर्मा (1932 [2009]), *हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी,* लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

पद्मनाभ समरेंद्र (2011), 'सेंसस इन कॉलोनियल इण्डिया ऐंड द बर्थ ऑफ़ कास्ट', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* 46(33).

पॉल ब्रास (1974), *लैंग्वेज़, रिलीजन ऐंड पॉलिटिक्स इन नॉर्थ इण्डिया,* क्रेम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, क्रेम्ब्रिज.

फ्रांचेस्का ओर्सीनी (2002), *द हिंदी पब्लिक स्फ़ीयर 1920-1940 : लैंग्वेज़ ऐंड लिटरेचर इन द एज़ ऑफ़ नैशनलिज़म,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

बेनेडिक्ट ऐंडरसन (1983), *इमेजिंड कम्युनिटीज़ रिफ़्लेक्शंस ऑन द ऑरिजिन ऐंड स्प्रेड ऑफ़ नैशनलिज़म,* वर्सो, लंदन.

मुहम्मद सादिक़ (1984), *ए हिस्ट्री ऑफ़ उर्दू लिटरेचर,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

मुहम्मद हुसैन आज़ाद (2001), *आबे-हयात: शेपिंग द कैनन ऑफ़ उर्दू पोएट्री, अनु. व सं. शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी व फ़्रांसेस प्रिचेट,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

रश्मि पंत (1987), 'द कॉग्निटिव स्टेटस ऑफ़ कास्ट इन कॉलोनियल एथ्नोग्राफ़ी', *इण्डियन इकॉनॉमिक ऐंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू,* 24(2).

रामचंद्र शुक्ल (1929 [2011]), *हिंदी साहित्य का इतिहास,* प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली.

रामनिरंजन परिमलेन्दु (2003), *अयोध्या प्रसाद खत्री,* साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली.

रामविलास शर्मा (1965), *भारत की भाषा-समस्या,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

---- (1977), *महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

---- (1984), *भारतेन्दु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

लक्ष्मी नारायण सिंह (1982), *राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन,* हिंदी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद.

लक्ष्मीनारायण सुधांशु (1956), *बिहार की साहित्यिक प्रगति,* बिहार हिंदी साहित्य सम्मेलन, पटना.

लक्ष्मीशंकर व्यास (सं.) (2001), *सभापतियों के भाषण,* भाग 1, हिंदी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद.

वसुधा डालमिया (1997 [2010]), द *नैशनलाइज़ेशन ऑफ़ हिंदू ट्रेडिशंस : भारतेन्दु हरिश्चंद्र ऐंड नाइंटींथ सेंचुरी बनारस,* परमानेंट ब्लैक, रानीखेत.

विद्यानिवास मिश्र (सं.) (2001), *सभापतियों के भाषण,* भाग 2, हिंदी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद.

विलियम गोल्ड (2005), *हिंदू नैशनलिज़्म ऐंड द लैंग्वेज़ ऑफ़ पॉलिटिक्स इन लेट कॉलोनियल इण्डिया,* क्रेम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

वीरभारत तलवार (2006), *रस्साकशी: 19वीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत,* सारांश प्रकाशन, नयी दिल्ली.

शांति प्रकाश वर्मा (1970), *प्रताप नारायण मिश्र की हिंदी गद्य को देन,* सस्ता साहित्य भण्डार, दिल्ली.

शिवपूजन सहाय (1994), *स्मृतिशेष,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

शोभना निझावन (2012), *विमन ऐंड गर्ल्स इन द हिंदी पब्लिक स्फ़ीयर : पीरियॉडिकल लिटरेचर इन कॉलोनियल नॉर्थ इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

---- (शीघ्र प्रकाश्य), *हिंदी पब्लिशिंग इन कॉलोनियल लखनऊ : जेंडर, जॉनर, ऐंड विज़ुअलिटी इन द क्रिएशन ऑफ़ ए लिटरेरी 'कैनन',* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

श्याम सुंदर दास (1941), *मेरी आत्मकहानी,* इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद.

श्रीधर पाठक रचनावली (2013), भाग 1–2, सुरेश सलिल (सं.), अनामिका प्रकाशन, नयी दिल्ली.

समीर कुमार पाठक (सं.) (2013), *मदन मोहन मालवीय : विचार यात्रा,* नैशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली.

सीताराम चतुर्वेदी (1972), *मदन मोहन मालवीय,* पब्लिकेशन डिविजन, नयी दिल्ली.

सुजाता एस. मोदी (2018), द *मेकिंग ऑफ़ मॉडर्न हिंदी लिटरेरी अथॉरिटी इन कॉलोनियल नॉर्थ इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

सुधीर चंद्र (1992), द *ऑप्रेसिव प्रजेंट: लिटरेचर ऐंड सोशल कांशसनेस इन कोलोनियल इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

सुमति रामास्वामी (1998), *पैशंस ऑफ़ द टंग लैंग्वेज़ : डिवोशन इन तमिल इण्डिया,* 1891–1970, मुंशीराम मनोहरलाल, नयी दिल्ली.

सूर्य प्रसाद दीक्षित (2012), *मिश्रबंधु,* साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली.

सेंसस ऑफ़ इण्डिया, 1911, युनाइटेड प्रोविंसेज़ ऑफ़ आगरा ऐंड अवध, खण्ड 15, भाग 1, रिपोर्ट, गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद.

हितेन्द्र पटेल (2011), 'द इंटेलिजेंसिया ऐंड द मेकिंग ऑफ़ द हिंदी मूवमेंट इन बिहार', *इंडियन हिस्टॉरिकल रिव्यू,* 38 (I).